वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ५० अंक ११ नवम्बर २०१२

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

नवम्बर २०१२

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५०
अंक ११

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३,०००

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

पुरखों की थाती

कायः संनिहितापायः सम्पदः परमापदः ।
समागमाः साऽपगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ।।१५।।

– शरीर में ही विनाश निहित है, सम्पत्ति विपत्तियों का घर है, मिलन वियोग से परिपूर्ण है और जगत् में उत्पन्न सभी वस्तुएँ विनाशवान् हैं।

काक-चेष्टा बकोध्यानं श्वाननिद्रा तथैव च ।
अल्पाहारी गृहत्यागी विद्यार्थी पंचलक्षणम् ।।१६।।

– विद्यार्थी में वे पाँच गुण होने चाहिये – उसका चित्त बगुले के समान एकाग्र हो, वह कौए के समान प्रयत्नशील हो, वह कुत्ते के समान हल्की निद्रा तथा अल्प भोजन करनेवाला हो और घर को त्यागने वाला हो।

काव्यशास्त्र-विनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ।।१७।।

– बुद्धिमानों का समय काव्य तथा शास्त्रों के रसास्वादन में बीतता है और मूर्खों का समय जूए आदि व्यसनों, निद्रा-आलस्य या लड़ाई-झगड़ों में व्यतीत होता है।

कामक्रोधादिपुत्राद्यान् हिंसातृष्णादि कन्यकाः।
मोहयन्त्यनिशं देवमात्मानं स्वैर्गुणैर्विभूम् ।।१८।।

– अविद्या माया – अपने काम-क्रोध आदि पुत्रों, हिंसा-तृष्णा आदि पुत्रियों तथा अपने (तीन) गुणों के द्वारा सदैव दिव्य सर्वव्यापी आत्मा को मोहित किये रहती है।

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः ।
वसन्तकाले संप्राप्ते काकः काकः पिकः पिकः।।१९

– देखने में कौआ काला है और कोयल भी काली है। दोनों में क्या भेद है? वसन्त ऋतु आ जाने पर (दोनों की वाणी से) उनका भेद स्पष्ट हो जाता है।

कांश्चिदर्थान्नरः प्राज्ञो लघुमूलान्महाफलान् ।
क्षिप्रमारभते कर्तुं न विघ्नयति तादृशान् ।। २०।।

– बुद्धिमान व्यक्ति ऐसे कार्यों को तत्काल शुरू कर देता है, जिनका मूल अर्थात् आरम्भ छोटा और फल महान् होता है। वह उसमें जरा भी विघ्न नहीं आने देता।

किं कुलेन विशालेन शीलमेवात्र कारणम् ।
कृमयः किं न जायन्ते कुसुमेषु सुगन्धिषु ।।२१।।

– बड़े प्रसिद्ध कुल में जन्म लेने मात्र से ही कोई महान् नहीं हो जाता। इसमें तो शील (आचरण) ही (प्रधान) कारण है, क्योंकि सुगन्धित पुष्पों के भीतर भी क्या कीड़ों-मकोड़ों का जन्म नहीं होता?

किं जन्मना भवति पैत्रगुणेन किं वा ।
शक्त्या हि याति निजया पुरुषः प्रतिष्ठाम् ।।२२।।

– अपनी स्वयं की शक्ति (या गुणों) से ही व्यक्ति को सम्मान प्राप्त होता है, अपने पिता या कुल का गुणगान करने से क्या लाभ?

किमत्र चित्रं यत्सन्तः परानुग्रह-तत्पराः ।
न हि स्वदेह-शैत्याय जायन्ते चन्दनद्रुमाः ।।२३।।

– सन्तगण दूसरों की सेवा में तत्पर रहते हैं, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, क्योंकि चन्दन के वृक्ष कोई अपने स्वयं के शरीर को शीतल करने के लिये थोड़े ही पैदा होते हैं!

कृत-कर्म-क्षयो नास्ति कल्प-कोटि-शतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।।२४।।

– अपने किये हुए भले तथा बुरे कर्मों का फल निश्चित रूप से भोगना पड़ता है, सौ करोड़ युग बीत जाने पर भी किये हुए कर्म का नाश नहीं होता।

❖ **(क्रमशः)** ❖

सबका हो कल्याण

– १ –

(राग-दरबारी कान्हरा, ताल–कहरवा)

अति दुर्लभ यह मानव-जीवन
जग-अरण्य में व्यर्थ भटकते,
व्यर्थ न खोना यह अमोल धन ।। अति.

प्रभु की ओर बढ़ा अपने पग,
बाधाओं से पूरित है मग,
भोग-विषय वन में न अटकना,
प्रभु-चरणों को मान हृदय-धन ।। अति.

जीवन लक्ष्य सुनिश्चित कर ले,
पुण्य कर्म से झोली भर ले,
बीता काल न फिर आता है,
कर उपयोग सँभल कर प्रति क्षण ।। अति.

जो बोयेगा, सो पायेगा,
कुछ भी साथ नहीं जायेगा,
जब 'विदेह' चिर यात्रा होगी,
प्रभु केवल होंगे अपने जन ।। अति.

– २ –

(राग-वैरागी, ताल-कहरवा)

स्वस्थ सबल हों प्राणी सारे, सबका हो कल्याण,
भाई-चारा फैले जग में, सच्चे हों इन्सान ।।

दोष किसी के कभी न देखूँ, सबमें व्यापित परमेश्वर हैं,
विषयों में न कभी ललचाऊँ, सब ये क्षणभंगुर नश्वर हैं,
सेवा-पूजा करूँ सभी की, सब में हैं भगवान !!

अपने स्वार्थ लोभ के चलते, पीड़ा हो न किसी को मुझसे,
जीवन के झंझावातों में, लगा रहे चित निशि-दिन तुमसे,
हाथ पकड़ ले चलो सुपथ पर, मैं बालक नादान ।।

षड् रिपुओं का है यह उपवन, निशिदिन जग में सजग रहे मन,
परहित कर्मयोग में लगकर, छल-बल रहित धन्य हो जीवन,
'रामकृष्ण' होवे अधरों पर, हो 'विदेह' जब प्राण ।।

पश्चिमी देशों में धर्म-प्रचार

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

मैग्नोलिया, मैसाचुसेट्स, २८ अगस्त १८९४ : मैंने भारत में लिख भेजा है कि वे लोग मुझे निरन्तर पत्र लिख-लिखकर परेशान न करें। जब मैं भारत में भ्रमण कर रहा था, तब तो कोई नहीं लिखता था। अब अमेरिका में मुझे पत्र लिखने में वे लोग क्यों अपनी सारी अतिरिक्त ऊर्जा खर्च करेंगे? मेरा पूरा जीवन ही एक पथिक का जीवन है – यहाँ, वहाँ या जहाँ कहीं भी हो। मुझे कोई जल्दबाजी नहीं है। मेरे दिमाग में एक मूर्खतापूर्ण योजना थी, जो एक संन्यासी के लिये अनुचित है। अब मैंने उसका परित्याग कर दिया है और जीवन को सहज भाव से ले रहा हूँ। कोई निरर्थक हड़बड़ी नहीं है।... तुम्हें हमेशा याद रखना होगा कि मैं कहीं भी स्थिर नहीं रह सकता, चाहे वह उत्तरी ध्रुव ही क्यों न हो; मुझे चलते रहना होगा – यही मेरा व्रत है और यही मेरा धर्म। अत: चाहे भारत हो या उत्तरी ध्रुव या दक्षिणी ध्रुव – चाहे जो स्थान हो, मैं परवाह नहीं करता। पिछले दो वर्षों से मैं ऐसे लोगों के बीच भ्रमण कर रहा था, जिनकी भाषा मैं स्वयं भी नहीं बोल सकता। ''न मेरे पिता हैं न माता, न भाई न बहन, न मित्र न शत्रु, न घर न देश – मैं अनन्त के पथ पर चलता हुआ एक यात्री हूँ, जो ईश्वर के सिवाय अन्य किसी से किसी भी प्रकार की सहायता की अपेक्षा नहीं करता।[४९]

एनिस्क्वाम, ३१ अगस्त १८९४ : तुम्हें ज्ञात ही है कि रुपये रखना, यहाँ तक कि उसे छूना भी मेरे लिए बड़ा कठिन है। यह अरुचिकर है और मन को अधोगामी बना देता है।... यहाँ मेरे कुछ मित्र हैं, जो मेरे आर्थिक मामलों की व्यवस्था करते हैं। ... अर्थ-विषयक इस भयानक झंझट से मुक्ति पा जाने पर मैं सुख की साँस ले सकूँगा।[५०]

बोस्टन, १३ सितम्बर १८९४ : स्वदेशवासियों की ओर से प्रशंसा आ गयी है, इस कारण प्रभु अपने सेवक को अहंकार से फूल जाने देंगे, मुझे ऐसा नहीं लगता। मैं प्रसन्न हूँ कि उन लोगों ने मेरे कार्य का अनुमोदन किया है – मेरे अपने कारण से नहीं, बल्कि मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य निन्दा के द्वारा नहीं, अपितु प्रशंसा के द्वारा उन्नति ही करता है; और ऐसा ही राष्ट्रों के विषय में भी है। जरा सोचकर देखो कि मेरे धर्मप्राण निर्धन देश के सिर पर अनावश्यक रूप से कितने तिरस्कारों की वर्षा की गयी है, और वह किस कारण से की गयी है? उन्होंने ईसाइयों या उनके धर्म या उनके प्रचारकों को कभी हानि नहीं पहुँचायी। वे लोग सदा से सबके प्रति मित्रता का भाव रखते आये हैं। इसलिये देखो माँ, किसी विदेशी राष्ट्र द्वारा उनके प्रति कहे गये हर भले शब्द में भारत का इतना अधिक भला करने की शक्ति निहित है। यहाँ किये गये मेरे साधारण-से कार्य की अमेरिकी लोगों द्वारा प्रशंसा ने वस्तुत: उन्हें काफी अधिक लाभ पहुँचाया है। करोड़ों पददलित, लांछित तथा निर्धन भारतवासियों को दिन-रात गालियाँ देने की जगह कम-से-कम एक भला शब्द, एक भला विचार भेजो। प्रत्येक राष्ट्र से मैं यही याचना करता हूँ। यदि सम्भव हो तो उनकी सहायता करो; यदि न हो सके, तो कम-से-कम उन्हें गालियाँ देना तो बन्द करो।[५१]

बोस्टन, १३ सितम्बर १८९४ : लगभग एक सप्ताह से मैं इस होटल में हूँ। मैं बोस्टन में अभी कुछ समय और रहूँगा। मेरे पास पहले ही से बहुत-से लबादे हैं, वस्तुत: इतने ज्यादा कि मैं उन्हें आसानी से साथ नहीं ले जा पाता। जब मैं एनिस्क्वाम में भीग गया था, तो मैं वह काला 'सूट' पहने हुए था, जिसकी तुम बहुत प्रशंसा करती हो। मैं नहीं समझता कि वह किसी प्रकार क्षतिग्रस्त हो सकता है; ब्रह्म में मेरे गम्भीर ध्यान के साथ वह भी ओतप्रोत रहा है।... जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, यायावरी कर रहा हूँ। कल एबे ह्यू का तिब्बत के घुमक्कड़ लामाओं का वर्णन पढ़ने में बड़ा आनन्द आया। वह हमारे साधु-सम्प्रदाय का सही चित्रण है। उनका कथन है कि वे बड़े विचित्र लोग हैं। जब इच्छा होगी, वे आ जायेंगे, हर एक की मेज पर बैठ जाते हैं; निमंत्रण हो अथवा

नहीं, जहाँ चाहेंगे, रहेंगे और जहाँ चाहेंगे, चले जायेंगे। एक भी पहाड़ ऐसा नहीं है, जिस पर वे न चढ़े हों, एक भी ऐसी नदी नहीं है, जिसे उन्होंने पार न किया हो, एक भी ऐसा राष्ट्र नहीं है, जिसे वे न जानते हों, एक भी ऐसी भाषा नहीं है, जिसमें वे वार्ता न करते हों। उनका विचार है कि ईश्वर ने उनमें उस शक्ति का, जिससे वह शाश्वत रूप से परिक्रमा करते रहते हैं, कुछ अंश अवश्य रख दिया है। आज यह घुमक्कड़ लामा लिखते ही जाने की इच्छा से अभिभूत था, अतः जाकर एक दूकान से लिखने का सब प्रकार का सामान तथा एक सुन्दर पत्राधार, जो कब्जे से बन्द होता है और जिसमें एक छोटी-सी लकड़ी की दावात भी है, ले आया। अभी तक, तो अच्छे लक्षण हैं, आशा है कि ऐसा ही रहेगा। पिछले महीने भारत से मुझे अनेक पत्र प्राप्त हुए; और मुझे अपने देशवासियों से बड़ी प्रसन्नता होती है, जब वे मेरे कार्य की उदारतापूर्वक सराहना करते हैं। उनके लिए इतना पर्याप्त है। और कुछ अधिक नहीं लिख सकूँगा। प्रोफेसर राइट, उनकी धर्मपत्नी और बच्चे सदैव की भाँति ही कृपालु हैं। शब्द, उनके प्रति मेरी कृतज्ञता, नहीं व्यक्त कर सकते।

मुझे बड़ी सर्दी हुई थी, उसके सिवा अब तक मुझे कोई शिकायत नहीं है। लगता है अब वह जा चुका है। इस बार अनिद्रा की चिकित्सा के लिये मैंने ईसाई विज्ञान की आजमाइश की और देखा कि वह अच्छा काम करता है।[५२]

बोस्टन, १९ सितम्बर १८९४ : इस समय मैं बोस्टन के कुछ स्थानों में भाषण दे रहा हूँ। अब मैं एक ऐसे स्थान की खोज में हूँ, जहाँ बैठकर अपने विचारों को लिपिबद्ध कर सकूँ। भाषण बहुत हो चुके, अब मैं कुछ लिखना चाहता हूँ। मैं समझता हूँ कि इस कार्य के लिए मुझे न्यूयार्क जाना पड़ेगा। श्रीमती गर्नसी ने मेरे साथ अत्यन्त सहृदयतापूर्ण व्यवहार किया है और वे सदा मेरी सहायता के लिए इच्छुक रहती हैं। मैं सोच रहा हूँ कि उनके यहाँ जाकर मैं इस कार्य को करूँ।[५३]

बोस्टन, २१ सितम्बर १८९४ : मैं निरन्तर एक से दूसरे स्थान में भ्रमण करते हुए सतत कार्यरत हूँ, भाषण दे रहा हूँ, कक्षाएँ ले रहा हूँ, आदि आदि। अपनी प्रस्तावित पुस्तक का अभी तक मैं एक पंक्ति भी नहीं लिख सका हूँ। शायद कुछ दिन बाद उसमें जुट सकूँ। यहाँ उदार मतावलम्बियों तथा पक्के ईसाइयों में से कुछ लोग मेरे अच्छे मित्र बन चुके हैं। आशा है कि मैं शीघ्र ही भारत लौट सकूँगा। इस देश में तो बहुत काम हो चुका। खासकर अत्यधिक परिश्रम ने मुझे बड़ा दुर्बल बना दिया है। जनता के सामने अधिक भाषण देने तथा कहीं पर उपयुक्त विश्राम न लेकर निरन्तर एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण करने से ही यह दुर्बलता बढ़ी है। मैं इस व्यस्त, निरर्थक तथा धनाकांक्षी जीवन की परवाह नहीं करता। इसलिए तुम समझ लो कि मैं शीघ्र ही लौटूँगा। यह सही है कि यहाँ के एक वर्ग का, जिसकी संख्या क्रमशः बढ़ती जा रही है, मैं अत्यन्त प्रिय बन चुका हूँ और वे अवश्य ही यह चाहेंगे कि मैं सदा यहीं रहूँ। पर मैं सोचता हूँ कि अखबारी हो-हल्ला तथा आम लोगों में कार्य करने के फलस्वरूप बहुत कुछ ख्याति मिल चुकी, मैं इन चीजों की बिल्कुल परवाह नहीं करता।

हमारी योजना के लिए अब यहाँ से धन मिलने की आशा नहीं है। आशा करना व्यर्थ है। किसी देश के अधिकांश लोग मात्र सहानुभूतिवश कभी किसी का उपकार नहीं करते। ... हमारी जाति की तुलना में पाश्चात्य लोग अधिक कंजूस हैं। मेरा तो विश्वास है कि एशिया के लोग संसार की सब जातियों में अधिक दानशील हैं, पर वे सर्वाधिक गरीब हैं।[५४]

बोस्टन (?), २५ सितम्बर १८९४ : इस देश में ग्रीष्मकाल में सब समुद्र के किनारे चले जाते हैं, मैं भी गया था। यहाँवालों को नाव खेने और 'यॉच' की सवारी का रोग है। 'यॉच' एक प्रकार का छोटा जहाज होता है और यह यहाँ के लड़के, बूढ़े तथा जिस किसी के पास धन है, उसी के पास है। उसी में पाल लगाकर वे लोग प्रतिदिन समुद्र में डाल देते हैं; खाने-पीने तथा डांस करने के लिए घर लौटते हैं; और गाना-बजाना तो दिन-रात लगा ही रहता है। पियानो के मारे घर में टिकना मुश्किल हो जाता है।

हाँ, तुम जिन जी. डब्ल्यू. हेल के पते पर पत्र भेजते हो, उनकी भी कुछ बातें लिखता हूँ। वे वृद्ध हैं और उनकी वृद्धा पत्नी हैं। दो कन्याएँ हैं, दो भतीजियाँ और एक पुत्र। पुत्र नौकरी करता है, इसलिए उसे दूसरी जगह रहना पड़ता है। पुत्रियाँ घर पर रहती हैं। इस देश में कन्या का रिश्ता ही रिश्ता है। लड़के का विवाह होते ही वह पराया हो जाता है, कन्या के पति को अपनी स्त्री से मिलने के लिए प्रायः उसके बाप के घर जाना पड़ता है। यहाँ वाले कहते हैं – Son is son till he gets a wife; The daughter is daughter all her life. – (पुत्र तभी तक पुत्र है, जब तक उसका विवाह नहीं होता, परन्तु कन्या जीवन भर कन्या ही है।)

चारों कन्याएँ युवती और अविवाहित हैं। विवाह होना इस देश में महा कठिन काम है। पहले तो, मन के लायक वर हो, दूसरे धन हो ! लड़के यारी में तो बड़े पक्के हैं, पर पकड़ में आने के वक्त नौ दो ग्यारह ! लड़कियाँ नाच-कूदकर किसी को फँसाने की कोशिश करती हैं, लड़के जाल में पड़ना नहीं चाहते। आखिर इस तरह 'लव' हो जाता है, तब शादी होती है। यह हुई साधारण बात, पर हेल की पुत्रियाँ रूपवती हैं, बड़े आदमी की कन्याएँ हैं, विश्वविद्यालय की छात्राएँ हैं, नाचने-गाने और पियानो बजाने में अद्वितीय हैं। कितने ही लड़के चक्कर मारते हैं, लेकिन उनकी नजर में

नहीं चढ़ते। जान पड़ता है, वे विवाह नहीं करेंगी, तिस पर अब मेरे साथ रहने के कारण इन पर महावैराग्य सवार हो गया है और इस समय वे ब्रह्मचिन्ता में लगी हुई हैं।

दोनों कन्याओं के बाल सुनहले हैं और दोनों भतीजियों के काले। ये 'जूते की सिलाई से चण्डीपाठ' तक हर काम जानती हैं। भतीजियों के पास उतना धन नहीं है, उन्होंने एक किंडरगार्टन स्कूल खोला है, पर कन्याएँ कुछ नहीं कमातीं। कोई किसी के भरोसे नहीं रहता। करोड़पतियों के पुत्र भी रोजगार करते हैं, विवाह करके अलग किराये का घर लेकर रहते हैं। कन्याएँ मुझे भैया कहती हैं, मैं उनकी माँ को माँ कहता हूँ। मेरा सब सामान इन्हीं के घर में है। मैं कहीं भी जाऊँ, वे उसकी देखभाल करती हैं। यहाँ के सब लड़के बचपन से ही काम-धन्धे में लग जाते हैं और लड़कियाँ विश्व विद्यालय में पढ़ती हैं, इसलिए यहाँ की सभाओं में ६०% स्त्रियाँ रहती हैं, उनके आगे लड़कों की दाल नहीं गलती।

इस देश में प्रेतविद्या बड़ी लोकप्रिय है। जो प्रेत को बुलाता है, उसे medium (माध्यम) कहते हैं। वह एक पर्दे की आड़ में जाता है और उसके भीतर से भूत निकलते रहते हैं, बड़े-छोटे हर रंग के! मैंने भी कई भूत देखे, परन्तु यह मुझे झाँसा-पट्टी ही जान पड़ती है। और भी कुछ देखने के बाद मैं निश्चित रूप से निर्णय लूँगा। उस विद्या के जानकार मुझ पर बड़ी श्रद्धा रखते हैं।

दूसरा है क्रिश्चियन साइंस – यही आजकल यहाँ का सबसे बड़ा दल है, सर्वत्र इसका प्रभाव है। ये खूब फैल रहे हैं और कट्टरतावादियों की छाती में शूल के समान चुभ रहे हैं। वे वेदान्ती हैं, अर्थात् अद्वैतवाद के कुछ मतों को लेकर उन्हीं को बाइबिल में घुसेड़ दिया है और 'सोऽहम् सोऽहम्' कहकर मन की शक्ति से रोग अच्छा कर देते हैं। ये सभी मेरा बड़ा आदर करते हैं।

आजकल यहाँ के कट्टरपंथी ईसाइयों में 'त्राहि-त्राहि' मची हुई है। शैतानपूजा (devil worship)[१] अब समाप्तप्राय है। ये मुझे यम जैसा देखते हैं और कहते हैं, "यह पापी कहाँ से आ टपका, देश भर की नर-नारियाँ इसके पीछे-पीछे चक्कर लगा रहे हैं; यह तो कट्टरपन्थियों को निर्मूल ही कर डालेगा।" आग लग गयी है और गुरुकृपा से अब वह बुझने की नहीं। समय आने पर इन कट्टरपन्थियों का दम निकल जायेगा। ...

थियोसॉफिस्टों का ऐसा कुछ दबदबा नहीं है, किन्तु वे भी कट्टरवादियों के पीछे पड़े हुए हैं।

यह क्रिश्चियन साइंस हमारे देश के कर्ताभजा[२] सम्प्रदाय की तरह है। कहो कि रोग नहीं है – बस, अच्छे हो गये, और कहो, 'सोऽहम्' – बस, तुम्हें छुट्टी, खाओ, पियो और मौज करो। यह घोर भौतिकवादी देश है। इस क्रिश्चियन देश के लोगों की बीमारी ठीक करो, चमत्कार दिखाओ, पैसे कमाने का उपाय बताओ; तब धर्म मानते हैं, इसके सिवा और कुछ नहीं समझते। परन्तु कोई-कोई अच्छे हैं। ...

यहाँ के लोगों के लिए मैं एक नये प्रकार का आदमी हूँ। कट्टरपन्थियों तक की अक्ल गुम है। लोग अब मुझे श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे हैं। ब्रह्मचर्य, पवित्रता से बढ़कर क्या दूसरी कोई शक्ति है?... ये भले आदमी, दयालु और सत्यवादी हैं। सब अच्छा है, परन्तु 'भोग' ही उनके भगवान हैं, जहाँ धन की नदी, रूप की तरंग, विद्या की भँवर और विलास का जमघट है। ये महिलाओं को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, जो उनके जीवन में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।... खैर – इस देश की नारियों को देखकर मेरे तो होश उड़ गये हैं। मुझे बच्चे की तरह साथ लिये घर-बाहर, दूकान-बाजार सर्वत्र जाती हैं। सब काम करती हैं। मैं उसका सोलहवाँ हिस्सा भी नहीं कर सकता।[५५]

बोस्टन (?), २७ सितम्बर, १८९४ : कलकत्ते से छपनेवाली अपने व्याख्यानों तथा उपदेशों की पुस्तकों में मैं एक बात पाता हूँ। इनमें से कुछ इस तरह छापी जा रही हैं, जिनमें से राजनीतिक विचारों की गन्ध आती प्रतीत होती है। पर मैं न राजनीतिज्ञ हूँ, न राजनीतिक आन्दोलन खड़ा करने वालों में हूँ। मैं केवल आत्मतत्त्व की चिन्ता करता हूँ – जब वह ठीक होगा, तो सब काम स्वयं ही ठीक हो जायेंगे। ... इसलिए तुम कलकत्ता-वासियों को सावधान कर दो कि मेरे लेखों या उपदेशों पर राजनीतिक निहितार्थ का मिथ्या आरोप न करें। क्या बकवास है!... मैंने सुना है कि रेवरेंड कालीचरण बनर्जी ने ईसाई धर्मोपदेशकों के सामने व्याख्यान देते हुए कहा कि मैं राजनीतिक प्रतिनिधि हूँ। यदि यह बात खुलेआम कही गयी हो, तो खुलेआम मेरी ओर से उन बाबू को कहो कि या तो वे कलकत्ते के किसी अखबार में लिख कर इसे प्रमाण द्वारा सिद्ध करें, अन्यथा अपने मूर्खतापूर्ण कथन को वापस लें। यही उनकी चाल है! साधारणतः मैंने ईसाई शासन के विरुद्ध सहज रूप से कुछ कठोर और खरे वचन अवश्य कहे थे, पर इसका अर्थ यह नहीं कि मैं राजनीति की परवाह करता हूँ, या मेरा उससे कोई सम्बन्ध है या ऐसी और कोई बात है। जो लोग मेरे व्याख्यानों के कुछ अंशों को छापकर उससे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि मैं राजनीतिक उपदेशक हूँ और इसे बड़ाई का काम समझते हैं, उनके लिए मेरा यही कहना है, "ऐसे मित्रों से भगवान ही बचाये!"...

मेरे मित्रों से कहना है कि मेरी निन्दा करनेवालों के प्रति पूर्ण मौन ही मेरा एकमात्र उत्तर है। यदि मैं उनसे बदला लूँ,

१. कट्टरपन्थी ईसाई – हिन्दू तथा अन्य धर्म के लोगों को शैतान-पूजक कहकर घृणा करते हैं। **२.** बंगाल का एक वैष्णव सम्प्रदाय, जो झाड़-फूँक द्वारा रोग दूर करने के लिये प्रसिद्ध हैं।

तब तो मैं भी उन्हीं के स्तर पर उतर आऊँगा। उनसे कहना कि सत्य अपनी रक्षा स्वयं करता है, और उन्हें मेरे लिए किसी से झगड़ा करने की आवश्यकता नहीं। ...

यह सार्वजनिक जीवन की बकवास और अखबारों में होने वाली प्रसिद्धि – इनसे मुझे विरक्ति हो गयी है। मैं हिमालय के एकान्त में वापस जाने को लालायित हूँ।[५६]

शिकागो, सितम्बर, १८९४(?) : इस दौरान मैं इस पूरे देश की यात्रा करता हुआ सभी चीजों को देखता रहा। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि संसार में केवल एक ही देश है, जो धर्म को समझ सकता है – वह है भारत; हिन्दू अपनी सम्पूर्ण बुराइयों के बावजूद नीति एवं अध्यात्म के क्षेत्र में दूसरे राष्ट्रों से बहुत ऊँचे हैं, और उसके नि:स्वार्थी सुपुत्रों की समुचित सावधानी, प्रयास एवं संघर्ष के द्वारा – पाश्चात्य देशों के वीरोचित तत्त्वों को हिन्दुओं के शान्त गुणों के साथ मिलाकर एक ऐसे मानव-समुदाय की सृष्टि की जा सकती है, जो इस संसार में अब तक पैदा हुई किसी भी समुदाय से कई गुना महान् होगा।

मुझे पता नहीं कि मैं कब लौटूँगा, लेकिन इस देश की अधिकांश चीजों को मैंने देख लिया, अत: शीघ्र ही यूरोप और फिर भारत चला जाऊँगा।[५७]

न्यूयार्क, ९ अक्तूबर (?), १८९४ : (कलकत्ते में ४ सितम्बर, १८९४ को आयोजित सभा के सन्दर्भ में लिखित) जगदम्बा की जय हो ! मुझे आशातीत उपलब्धि हुई है। साधु अपने ही देश में सम्मानित किया गया हैं और वह भी परम उत्साह के साथ ! उनकी दया पर मैं शिशुवत् रो रहा हूँ। बहनो, वे कभी अपने सेवक को नहीं छोड़ते। इस पत्र से, जिसे मैं तुम्हें भेज रहा हूँ, सब कुछ की व्याख्या हो जायेगी, और अमेरिका के लोगों के लिए प्रकाशित सामग्री आ रही है। उनमें जिन व्यक्तियों के नाम हैं, वे हमारे देश के रत्न हैं। सभापति कलकत्ते के मुख्य अभिजात पुरुष हैं और दूसरे सज्जन महेशचन्द्र न्यायरत्न संस्कृत कॉलेज के प्रधानाचार्य सम्पूर्ण भारत के ब्राह्मणश्रेष्ठ हैं और सरकार द्वारा इसी रूप में माने जाते हैं। पत्र तुम्हें सब कुछ बता देगा। बहनो ! मैं इतना श्रद्धाहीन हूँ कि ऐसी कृपाओं के बावजूद कभी-कभी मेरी आस्था विचलित हो जाती है। यह प्रतिक्षण जानते हुए भी कि मैं उनके हाथों में हूँ, मन कभी-कभी निराश हो उठता है। बहनो, एक ऐसा ईश्वर है – एक पिता – एक माता, जो कभी भी अपने बच्चों को नहीं छोड़ता है, कभी नहीं, कभी नहीं, कभी नहीं। अलौकिक सिद्धान्तों को एक ओर रख दो और शिशुवत् भगवान् की शरण लो। मैं अधिक नहीं लिख सकता – मैं एक नारी की भाँति रो रहा हूँ।

प्रभु की, मेरी अन्तरात्मा के ईश्वर की जय हो।[५८]

वाशिंग्टन, २३ अक्टूबर, १८९४ : अब तक मैं इनके गुरुओं में से एक हो गया हूँ। मुझे और मेरी शिक्षा को ये खूब पसन्द करते हैं।... मैं देश भर में शिक्षा और उपदेश देता हुआ घूमता हूँ, जैसा भारत में किया करता था। यहाँ हजारों लोगों ने मेरी बातें सुनीं और मेरे विचारों को आग्रह के साथ ग्रहण किया। यह बहुत महँगा देश है, परन्तु जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ, भगवान मेरे लिए प्रबन्ध कर रखते हैं।[५९]

वाशिंग्टन, नवम्बर (?), १८९४ : मेरे साथ यहाँ बहुत ही अच्छा व्यवहार हुआ है और बहुत अच्छी तरह अपना काम कर रहा हूँ। इस बीच कुछ भी असाधारण नहीं है, सिवा इसके कि भारत से आये समाचार-पत्रों के भार से तंग आ गया हूँ, और इसलिए एक गाड़ी भर मदर चर्च और श्रीमती गर्नसी को भेजने के पश्चात् मुझे उन्हें समाचार-पत्र भेजने से मना करना पड़ा रहा है। भारत में मेरे नाम पर काफी हो-हल्ला हो चुका है। आलासिंगा ने लिखा है कि देश भर का प्रत्येक गाँव अब मेरे विषय में जान चुका है। अच्छा, चिर शान्ति सदा के लिए समाप्त हुई और अब कहीं विश्राम नहीं है। मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि भारत के ये समाचार-पत्र मेरी जान ले लेंगे। अब वे लिखेंगे कि मैं किस दिन क्या खाता हूँ, कैसे छींकता हूँ। भगवान उनका कल्याण करे। यह सब मेरी मूर्खता थी। वस्तुत: मैं यहाँ चुपचाप थोड़े-से पैसे जुटाकर लौट जाने आया था, पर जाल में फँस गया और अब वह मौन या शान्त जीवन भी नहीं रहा।[६०]

संयुक्त राज्य अमेरिका, १८९४ : पिछले जाड़े में मैंने इस देश में बहुत भ्रमण किया, यद्यपि वह ऋतु कष्ट-दायक थी। मैं समझता था कि जाड़े में कष्ट होगा, पर फिलहाल वैसा कुछ नहीं हुआ।[६१]

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची –

४९. The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ३७; **५०.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. ३९५; **५१.** The Complete Works, खण्ड ९, पृ. ४०-४१; **५२.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. २९६; **५३.** वही, खण्ड ३, पृ. २९८; **५४.** वही, खण्ड ३, पृ. ३०३; **५५.** वही, खण्ड ३, पृ. ३०६; **५६.** वही, खण्ड ३, पृ. ३१५; **५७.** वही, खण्ड ३, पृ. ३०२; **५८.** वही, खण्ड २, पृ. ३७९; **५९.** वही, खण्ड ३, पृ. ३२०; **६०.** वही, खण्ड ३, पृ. ३२५; **६१.** वही, खण्ड ३, पृ. ३४६

रामराज्य की भूमिका (३/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में १९८८ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती के अवसर पर पण्डितजी ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)
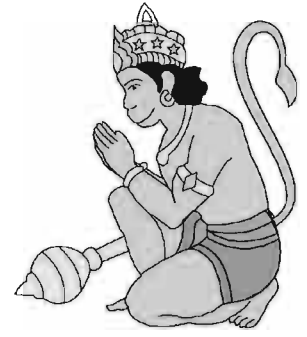
राम राज बैठें त्रैलोका।
हरषित भए गए सब सोका।।
बयरु न कर काहू सन कोई।
राम प्रताप बिषमता खोई।। ७/२०/८

– श्री रामचन्द्र के राजा होने पर तीनों लोक हर्षित हो गए, उनके सारे शोक जाते रहे। कोई किसी से वैर नहीं करता था। श्रीराम के प्रताप से सबकी विषमता (भेदभाव) मिट गई।

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग।।७/२०

– सभी अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुकूल आचरण करते हुए सदा वेदमार्ग पर चलते और सुख पाते हैं। उन्हें न किसी तरह का भय है, न शोक है, न कोई रोग ही होता है।

रामराज्य शब्द बड़ा लोकप्रिय है, और व्यवहार में कई बार उसका प्रयोग किया जाता है। इस युग में भी महात्मा गाँधी के मस्तिष्क में, उनके अन्त:करण में जिस राज्य की धारणा की कल्पना थी, उसका नामकरण भी उन्होंने रामराज्य ही किया था। पर जिन अर्थों में गोस्वामीजी ने रामराज्य का वर्णन किया है, उसका जो व्यापक स्वरूप और अर्थ आपको मानस में मिलेगा। यदि आप उस पर गहराई से दृष्टि डालें, तो आपको स्पष्ट प्रतीत होगा कि रामराज्य की स्थापना के लिये कैसे विवेक की आवश्यकता है, कैसी तपस्या और कैसी साधना चाहिए और कितने प्रयत्नों के बाद तब कहीं व्यक्ति और समाज के जीवन में रामराज्य व्यक्त होता है। इसका सर्वश्रेष्ठ सूत्र अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भ में ही आता है। महाराज श्री दशरथ 'मानस' के महानतम पात्रों में से एक हैं। मानस में जिनके लिए कहा गया –

दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं।
अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं।। १/२०९/८

– दशरथजी के गुणों का तो वर्णन ही नहीं किया जा सकता, जिनसे बढ़कर तो क्या, बराबरी का भी जगत् में कोई नहीं है।

जिन्हहि बिरचि बड़ भयउ बिधाता।
महिमा अवधि राम पितु माता।। १/१६/८

– जिनको रचकर ब्रह्माजी ने भी बड़ाई पाई और जो श्री रामजी के माता और पिता होने के कारण महिमा की सीमा हैं।

रामराज्य की स्थापना का संकल्प सबसे पहले महाराज दशरथ के ही हृदय में उत्पन्न हुआ। किन्तु प्रारम्भ में ऐसा प्रतीत हुआ कि रामराज्य की स्थापना में अब विलम्ब नहीं है। कल सुबह होते ही अयोध्या के राजसिंहासन पर श्रीराम बैठेंगे और रामराज्य की स्थापना हो जायगी। लग रहा था कि रामराज्य की स्थापना तो अत्यन्त सरल है, किन्तु आगे की घटनाओं ने स्पष्ट कर दिया कि दशरथ जैसे महान् व्यक्ति भी रामराज्य की स्थापना में सक्षम नहीं हो सकते। आप महाराज दशरथ पर दृष्टि डालें, अयोध्या की ओर देखें और वहाँ के व्यक्तियों के चरित्र पर दृष्टि डालें, तो चारों ओर श्रेष्ठता और उत्कृष्टता ही तो दिख पड़ती है। अयोध्या जैसा पवित्र नगर, जो सप्तपुरियों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। परम पवित्र देश, महाराज दशरथ जैसे व्यक्ति का संकल्प, पवित्र और धर्मात्मा अयोध्या के नागरिक, ऐसी परिस्थिति में तो रामराज्य की स्थापना सरलता से हो जानी चाहिए, लेकिन यदि यह सम्भव नहीं हुआ, तो इसका तात्पर्य यह है कि सचमुच रामराज्य की स्थापना अत्यधिक कठिन संकल्प है और महाराज दशरथ जैसे व्यक्ति भी उसे पूर्ण करने में सक्षम नहीं हैं।

आप महाराज दशरथ के जीवन की पृष्ठभूमि को देखें। उनके चरित्र में अनेक सद्गुण थे। पहले वे महाराज मनु थे, जिनको हमारे देश में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। हमारे धर्म का संविधान जिन स्मृतियों द्वारा प्रस्तुत किया गया है, उनकी संख्या अठारह है। इन अठारह स्मृतियों के आधार पर ही प्राचीन काल में समाज संचालित होता था। उनमें एक है – मनुस्मृति। कहते हैं कि यद्यपि सभी स्मृतियाँ श्रेष्ठ हैं, पर उनमें मनुस्मृति सर्वाधिक प्रामाणिक है। हमारा मनु से उद्भव हुआ है, इसीलिये हम सब मनुष्य कहलाते हैं। मानव जाति के आदि पुरुष मनु हैं। तो सत्युग के सर्वश्रेष्ठ धर्मात्मा के रूप मनु का जन्म हुआ और उन्होंने स्मृति का निर्माण किया। उस स्मृतिधर्म का उन्होंने स्वयं भी पालन किया और समाज को भी उन्होंने उसी स्मृति-धर्म पर चलाने की चेष्टा की।

कभी-कभी लोगों को लगता है कि रामराज्य का अर्थ है धर्मराज्य, पर ऐसा नहीं है। रामराज्य – धर्मराज्य से भी कहीं ऊँची वस्तु है। धर्मराज्य की स्थापना तो मनु ने की, परन्तु

गोस्वामीजी ने मनु की प्रशंसा करते हुए कहा – ''स्वायम्भुव मनु और उनकी पत्नी शतरूपा ... से मनुष्यों की यह अनुपम सृष्टि हुई।... राजा उत्तानपाद उनके पुत्र थे, जिनके पुत्र हरिभक्त ध्रुवजी हुए। मनुजी के छोटे पुत्र का नाम प्रियव्रत था।... देवहूति उनकी कन्या थी, जो कर्दम मुनि की प्रिय पत्नी हुई, जिन्होंने आदि देव, दीनों पर दया करने वाले, समर्थ एवं कृपालु भगवान कपिल को गर्भ में धारण किया।...

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा । जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा ।
दम्पति धरम आचरन नीका।अजहुँ गाव श्रुति जिन्हकै लीका
नृप उत्तानपाद सुत तासू । ध्रुव हरिभगत भयउ सुत जासू ।।
लघु सुत नाम प्रियब्रत ताही । बेद पुरान प्रसंसहिं जाही ।।
देवहूति पुनि तासु कुमारी । जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी ।
आदि देव प्रभु दीनदयाला। जठर धरेउ जेहिं कपिल कृपाला।
सांख्य सास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना ।
तत्त्व बिचार निपुन भगवाना ।। १/१४२/१-७

गोस्वामीजी ने इतनी पंक्तियों में मनु का परिचय देने के बाद लिखा – मनुजी ने काफी काल राज्य किया और सब प्रकार से भगवान की आज्ञा का पालन किया –

तेहिं मनु राज कीन्ह बहु काला ।
प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला ।। १/१४२/८

मनु ने धर्मराज्य की स्थापना की, व्यावहारिक दृष्टि से वह एक श्रेष्ठ राज्य था, पर उन्हें लगा कि धर्म द्वारा संचालित यह जीवन तथा राष्ट्र बड़ा व्यवस्थात्मक है, क्योंकि धर्म का अभिप्राय यह है कि वह व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों के निर्वाह का सूत्र देता है। व्यक्ति का समाज के प्रति क्या कर्तव्य है और भिन्न-भिन्न वर्णों और जातियों के रूप में, व्यक्तियों के क्या कर्तव्य हैं – यह धर्म की मुख्य व्याख्या है। अत: धर्म शब्द का अर्थ हुआ – जो समाज को धारण करता है, उसी का नाम धर्म है – **धारणात् धर्म इत्याहुः ।**

धर्म की इस सामाजिक दृष्टि का क्या अभिप्राय है? मनुष्य के अन्त:करण में स्वार्थ की वृत्ति है और वह संसार की सारी भोग-सामग्रियों को स्वयं अकेले ही पा लेना चाहता है, इस कारण लोगों में परस्पर टकराहट होती है। धर्म ऐसी व्यवस्था देता है कि समाज में धन या वस्तुओं का किस प्रकार वितरण होना चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि से इसमें धर्म की बड़ी भूमिका है, किन्तु व्यक्ति यदि केवल शरीर ही होता या केवल उपयोग की ही एक वस्तु होता, तो धर्म के द्वारा उस समस्या का समाधान हो जाता। परन्तु सूत्र देते हुए गोस्वामीजी ने कहा – समाज का महत्त्वपूर्ण स्थान होते हुए भी व्यक्ति का महत्त्व कोई कम नहीं है। इसीलिये मनु को आत्मसन्तोष की अनुभूति नहीं हुई। उन्हें लगा कि इससे हमारे अन्तर्मन में पूर्णता की अनुभूति नहीं हो रही है। समाज सुव्यस्थित रूप से चल रहा है। उनकी रानियाँ पतिव्रता हैं, पुत्र आज्ञाकारी हैं। समाज में छीना-झपटी नहीं है।

सब कुछ होते हुए भी उन्हें लगता है कि अन्तकरण में जिस दिव्य सुख और पूर्णता की अनुभूति की प्यास है, वह इससे पूरी नहीं होती। तब उनको लगता है कि जीवन की परिपूर्णता ईश्वर की प्राप्ति में है। जीव ईश्वर का अंश है; और अंश की प्रकृति ही यह है कि वह अपने पूर्ण की दिशा में ही अभिमुख होता है और पूर्ण से मिलकर ही उसे पूर्णता का बोध होता है। गोस्वामीजी ने इसके लिए कई दृष्टान्त दिये। जीव और ईश्वर के सम्बन्धों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने एक संकेत किया – जैसे समुद्र और जलकण।

मेघ क्या है? समुद्र के जलकण बड़ी संख्या में एकत्र होकर मेघ बन जाते हैं और वही मेघ आकाश से जल की वर्षा करता है। तो आकाश से मेघ द्वारा जो जल की वर्षा की जाती है, वह बूँदों के रूप में होती है। जल जब समुद्र में होता है, तब वह अभिन्न रूप में होता है, पर मेघ ने जब वर्षा की, तो वह बूँदों के रूप में अलग-अलग दिखाई दिया। यही मानो जीवत्व का चिह्न है। माया मानो बादल है और उसने ब्रह्म से ही उस अंश को ग्रहण किया है –

ईश्वर अंस जीव अबिनासी ।
चेतन अमल सहज सुखरासी ।। ७/११६/२

जब जल की वर्षा होती है, तो एक दृश्य दिखाई देता है। पृथ्वी पर पड़ते ही पानी वैसे ही गँदला हो जाता है, जैसे शुद्ध जीव से माया लिपट गई हो –

भूमि परत भा ढाबर पानी ।
जनु जीवहि माया लपटानी ।। ४/१४/६

जल पहले समुद्र में था, तो परिपूर्ण था; आकाश में गया, तो उसमें सीमा आ गई और जब तक वह आकाश में था, तब तक स्वच्छ था, उसमें मलिनता नहीं थी। लेकिन जब वह ऊपर से नीचे गिरा, तो भूमि की मलिनता से उसका संस्पर्श हुआ और उस जल में भी मलिनता दिखाई देने लगी। जीव अब माया के द्वारा मलिन भी हो गया।

पर इसके बाद अब दूसरी प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। जैसे समुद्र से वर्षा की प्रक्रिया है, वैसे ही वर्षा का जल कहीं जा रहा है। फिर से एकत्र हो रहा है। बूँदें अलग-अलग गिरीं, परन्तु वे सब एकत्र होकर तालाबों और नदियों की दिशा में बढ़ने लगीं। फिर नदी के रूप में उस जल का प्रवाह आगे बढ़ता जा रहा है। और उसकी अन्तिम परिणति क्या है? नदी जाकर समुद्र में विलीन हो जाती है। छोटी नदियाँ बड़ी नदियों में विलीन होती हैं और अन्त में सारी नदियों का जल समुद्र में चला जाता है। उसी को गोस्वामीजी कहते हैं –

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई ।
होइ अचल जिमि जिव हरि पाई ।। ४/१४/८

जैसे नदी का सारा जल समुद्र में पहुँचकर ज्यों-का-त्यों

हो जाता है, परिपूर्ण हो जाता है; वैसे ही जीव-सरिता ब्रह्म-समुद्र में मिलकर परिपूर्ण हो जाती है – जीव ब्रह्म से मिलकर परिपूर्ण हो जाता है। इस तरह से भिन्नता-अभिन्नता का दृष्टान्त देकर इसे स्पष्ट करने की चेष्टा की गई।

जब तक अंश पूर्ण को प्राप्त नहीं कर लेगा, तब तक उसका बहना नहीं रुकेगा, उसकी यात्रा नहीं रुकेगी। नदियों के द्वारा कितने सत्कार्य होते हैं, कितनी समाज-सेवा होती है। नदी कितनी उपयोगी है और नदियों को हम कितना महत्त्व देते हैं! हम उनकी पूजा करते हैं। उनकी प्रशंसा में काव्य की रचना की जाती है। फिर भी नदी बहती हुई किधर जा रही है। यदि कहा जाय कि परोपकार ही सबसे बड़ा धर्म है; तब तो सभी नदियों को बहकर मरुस्थल की ओर जाना चाहिए, जहाँ जल का सर्वथा अभाव है। सूखे स्थानों में नदियों का जल पहुँच जाय, तो लोगों को सुविधा होगी। लेकिन बड़ी विचित्र बात है। नदियाँ जल देते हुए बहकर रेगिस्तान की ओर नहीं, बल्कि समुद्र की ओर जा रही हैं।

किसी ने नदी से पूछा – "समुद्र में तो अथाह जल है, वहाँ तुम्हारी कोई आवश्यकता नहीं है। तो जहाँ लोग प्यासे हैं, जहाँ तुम्हारी आवश्यकता है, तुम वहाँ क्यों नहीं जाती?" यदि हम नदी की भाषा – अध्यात्म की भाषा समझ सकें, तो नदी यहीं कहेगी – "लोगों की प्यास मिटाना, यह तो मेरा धर्म है, मेरा कर्तव्य है और इसीलिए मैं बहते हुए लोगों की प्यास मिटाने की सेवा कर रही हूँ। पर केवल लोग ही तो प्यासे नहीं हैं, मैं भी प्यासी हूँ। लोगों की प्यास मिटाने के साथ-साथ मेरी प्यास भी तो मिटनी चाहिए। लोगों की प्यास मिटेगी मेरा जल पीकर, पर हमारी प्यास मिटेगी समुद्र का जल पीकर। इसलिये जब तक मैं समुद्र में जाकर पूरी तरह से समुद्र के साथ एकाकार नहीं हो जाऊँगी, तब तक मुझे सच्ची तृप्ति का बोध नहीं होगा।" यही आध्यात्मिक ज्ञान की धारणा है। व्यक्ति की परिपूर्णता केवल सामाजिक व्यवस्था में नहीं है। वस्तुओं की उपलब्धि में ही नहीं है। व्यक्ति के जीवन का इससे कहीं महत्तर लक्ष्य है और वह यह है कि व्यक्ति अन्ततोगत्वा ईश्वर से एकाकारता और पूर्णता का अनुभव करे। मनु को भी यही लगा।

मनु का प्रसंग बड़ा सांकेतिक है। मनु सारे मानव जाति के आदि पुरुष हैं। मनु के सामने जो समस्या है, वही प्रत्येक मनुष्य की समस्या है, बशर्ते कि मानव हो। केवल मनुष्य का शरीर होने से ही कोई मनुष्य नहीं होता। मनुष्य शरीर में केवल पशुता भरी हो, केवल भूख-प्यास को मिटा देना ही जिसका अभीष्ट हो, तो उसे क्या कहें? पर मनुष्य के जीवन में उसी अभाव की अनुभूति होगी, जो धर्म के पालन के बाद भी मनु के अन्त:करण में हुई थी। मनु ने शास्त्रों का अध्ययन किया था कि धर्म के द्वारा आगे बढ़ें।

धर्म से आगे बढ़ने के लिए पद्धति क्या है? धर्म की दो शाखाएँ हैं। एक शाखा में कहा जाता है कि आप धर्म का पालन करेंगे, तो स्वर्ग जायेंगे। वहाँ आपको अमृत पीने को मिलेगा और आप अप्सराओं के साथ विहार करेंगे। स्वर्ग में सुख-ही-सुख है। स्वर्ग में भोग-ही-भोग है। एक धर्म की धारणा यह है। इसी से प्रेरित होकर अधिकांश व्यक्ति धर्म का पालन करते हैं। परन्तु धर्म के परिणामस्वरूप यदि हम स्वर्ग में पहुँच भी गये, तो वहाँ पूर्णता की अनुभूति नहीं होगी। गोस्वामीजी ने व्यंग्य किया है। पूछा गया – स्वर्ग में तो ईर्ष्या आदि मानवीय वृत्तियाँ नहीं होती होंगी। गोस्वामीजी बोले – स्वर्ग में भी अनेक समस्याएँ हैं और उनमें सबसे बड़ी समस्या है – ईर्ष्या की। उन्होंने विनय-पत्रिका में लिखा है –

सर्गहु मिटत न सावत।

स्वर्ग में ईर्ष्या बहुत है और वह मिटती नहीं। बड़ी पते की बात है, क्योंकि जो व्यक्ति जितना पुण्य करके स्वर्ग में गया है, उसको उतने ही भोग प्राप्त हैं। जब बगलवाले पर दृष्टि जाती है कि यहाँ तो इतनी अप्सराएँ हैं, इतने सुख हैं और मुझे जो मिला है, उसमें तो इन वस्तुओं की कमी है। तब उसे अभाव की अनुभूति होती है, सामनेवाले से ईर्ष्या होती है। अब यदि संसार में किसी से ईर्ष्या हो, तो आप चाहें तो चेष्टा करके सामनेवाले से आगे बढ़ जाए, पर स्वर्ग में समस्या यह है कि आप ईर्ष्या तो कर सकते हैं, पर स्वर्ग में आगे बढ़ने की कोई सम्भावना नहीं है। आप जो पूँजी ले गये हैं, उसको बढ़ाने के लिए स्वर्ग में कोई उपाय नहीं है। वहाँ तो पूँजी घटेगी ही, जितना आप लाये हैं, उसी को भोगना है। स्वर्ग कर्मभूमि नहीं है, वह तो भोगभूमि है। इसका क्या परिणाम होगा? जब आपकी पुण्य की पूँजी समाप्त होगी, तब आप ईर्ष्या के कारण वहाँ भी सुखी नहीं रह पाये और वहाँ से फिर नीचे की ओर भेजे गये, तो फिर उन्हीं समस्याओं में घिर गये। तो धर्म के द्वारा जो स्वर्ग की दिशा में जा रहे हैं, मानो उनकी दृष्टि अधूरी है।

सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।। ७/१०२/२

गोस्वामीजी ने सुख और धर्म के सम्बन्ध की ओर संकेत किया है, पर उन्होंने धर्म का एक दूसरा फल भी बताया है – धर्म से वैराग्य, वैराग्य से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष –

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना।
ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।। ३/१६/१

यह एक दूसरी परम्परा है – मोक्ष की। मनु ने अनुभव किया कि धर्म से वैराग्य, वैराग्य से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष की इस परम्परा में मेरी समस्या यह है कि इतने दिनों से भोगों को भोगते हुए तथा धर्म का पालन करते हुए भी अब तक मेरे अन्त:करण में वैराग्य नहीं आया। धर्म का वास्तविक फल जो होना चाहिए, उसका लक्षण हमारे जीवन में नहीं

दीख रहा है। परिणाम क्या होता है? मनु विचार करते हैं।

यहाँ एक दृष्टान्त लेते हैं – यदि आपको भूख स्वाभाविक रूप से लगे, तो आप भोजन करेंगे ही और आपके शरीर में स्वस्थता आएगी। पर यदि आपको भूख न लगे, तो क्या आप यह सोचकर प्रसन्न होंगे कि चलो, भोजन से छुट्टी मिली। अब भोजन की झंझट नहीं रह गई। क्योंकि अन्त में भोजन करके भी भूख ही तो मिटती है और भूख पहले से ही मिटी हुई है, तब तो यही अच्छा है। लेकिन आपको भूख न लगे, तो आप चिन्तित होंगे और वैद्य से कहेंगे कि मुझे भूख नहीं लग रही है, आप कोई ऐसी दवा दीजिए, जिससे मुझे भूख लगे। इसी प्रकार से धर्म से यदि वैराग्य उत्पन्न न हो; और उस व्यक्ति में यदि साधना की वृत्ति है, विचारवान है, तो वह प्रसन्न नहीं होगा। यहाँ मैं एक बात और जोड़ दूँ – वैराग्य का सम्बन्ध दु:ख से बहुत बड़ा है। जीवन में यदि खूब सुखानुभूति हो और सुख की ही प्यास बढ़ती जाय, तो शायद हमारी साधना सही दिशा में नहीं चल रही है। पर सृष्टि में तो सुख के साथ दु:ख भी है और दु:ख की अनुभूति से हमारे अन्त:करण में वैराग्य की अनुभूति आती है।

मनु की समस्या यह थी कि सुख उनके चारों ओर बिखरा हुआ था। प्रतिकूलता कुछ थी नहीं, वैराग्य उत्पन्न हो नहीं रहा था। पर मनु बुद्धिमान थे। यह सोचकर प्रसन्न नहीं हुए कि वैराग्य की क्या आवश्यकता है? उनको लगा कि धर्म का सच्चा फल तो मेरे जीवन में आया नहीं। पर, अब उनके सामने गोस्वामी जी ने दो संकेत किए।

होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु॥ १/१४२

हृदय में पीड़ा हुई। यह विचारजन्य पीड़ा है। एक तो परिस्थिति-जन्य पीड़ा होती है और दूसरी विचारजन्य पीड़ा। परिस्थिति-जन्य पीड़ा का अनुभव तो प्रत्येक व्यक्ति को होता है, पर साधकों को विचारजन्य पीड़ा होती है। साधारणतया साधक को देखकर यह नहीं लगता कि उनके सामने कोई समस्या है, पर जब वह विचार करता है, तो सारे सुखों के बीच में उसे दु:ख की अनुभूति होती है। यही विचारजन्य दु:ख मनु के हृदय में उत्पन्न हुआ। उन्होंने सोचा कि ईश्वर को पाने के लिए भक्ति की आवश्यकता है और यदि मेरे अन्त:करण में वैराग्य नहीं है, तो भक्ति कैसे होगी?

उन्होंने अपने विचार को क्रियान्वित किया। उन्होंने निर्णय किया कि भले ही मेरे अन्त:करण में वैराग्य उत्पन्न न हो हुआ हो, पर मुझे जीवन के चरम लक्ष्य की दिशा में बढ़ना चाहिए। मनु ने पुत्र से कहा – राज्य स्वीकार करो। पुत्र सिंहासन पर बैठना नहीं चाहते थे, किन्तु मनु ने स्वयं उचित अवसर देखकर राज्य का परित्याग कर दिया और महारानी सतरूपा को लेकर वन में चले गये। मनु का प्रसंग साधना का प्रसंग है और वह केवल मनु की साधना का नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानवता के लिये साधना का क्रम है।

सतरूपा को लेकर जाने के पीछे यहाँ पर एक बड़े महत्त्व का सूत्र है। मनु ने मुक्ति की दिशा में प्रयास नहीं किया। मुक्ति का क्या अर्थ है – जन्म-मरण के इस चक्र से छूट जाना। परन्तु मनु इस जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने के लिये उत्सुक नहीं थे। यहाँ मनु की मानवजाति के प्रति संवेदना प्रगट हुई। व्यक्तिगत साधना और लोक-कल्याण की साधना – ये दो भिन्न-भिन्न साधनाएँ हैं। अपने सुख और अपनी परिपूर्णता एक बात है और सारे समाज को पूर्ण बनाने की चेष्टा दूसरी चीज है। सचमुच मानव-जाति के आदिपुरुष में जो गुण होना चाहिए, वह मनु के जीवन में दिखाई दिया। मनु यदि चाहते, तो वन में जाते, तपस्या करते, विचारयुक्त ज्ञान और वैराग्य के द्वारा मुक्ति पाते। पर आगे चलकर आप देखेंगे कि उनका उद्देश्य अकेले मुक्त होना नहीं, अपितु भगवान को भी संसार में आने के लिए, जन्म लेने के लिये प्रेरित करना है। उनको अपनी सारी मानव-जाति की चिन्ता है। यदि मैं मुक्त हो जाऊँगा, तो व्यक्तिगत रूप से मैं मुक्त हो जाऊँगा और यदि ईश्वर संसार में अवतरित होंगे, तो दोनों उद्देश्य पूरे होंगे। जिस धर्म की स्थापना की मैंने चेष्टा की, जब ईश्वर उस धर्म को अपने जीवन में प्रति-स्थापित करेंगे, तो धर्म को भी महत्त्व मिलेगा। जब ईश्वर ही मनुष्य के रूप में आ जायेंगे, तो उनका दर्शन प्राप्त करके अनगिनत लोग मुक्त हो जायेंगे। इसलिए मनु के जीवन में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध की ओर बड़ा मधुर संकेत है। वे अच्छे विचारक हैं, उनके अन्त:करण में आत्मतृप्ति के साथ-साथ सारे संसार की तृप्ति के लिए व्यग्रता विद्यमान है। इसीलिए अपनी साधना-पद्धति में उन्होंने राज्य, सम्पत्ति, वस्त्र और आभूषण का परित्याग कर दिया। लेकिन महारानी सतरूपा को साथ लेकर चले जा रहे हैं। उन्हें साथ में लेकर जाने का तात्पर्य यह था, यदि वे मुक्ति चाहते होते, तो अकेले जाते, पर जब उनके अन्त:करण में ईश्वर को पुत्र बनाने की कामना है, तो ईश्वर को पुत्र बनाने के लिए संसार की पद्धति के अनुकूल माता-पिता की अपेक्षा होगी, इसीलिये महारानी सतरूपा और वे साथ में जा रहे हैं। गोस्वामीजी अब दूसरा सूत्र देते हैं। वे पथ चलते हुए ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो ज्ञान और भक्ति ही शरीर धारण किए जा रहे हों –

पंथ जात सोहहिं मतिधीरा।
ग्यान भगति जनु धरें सरीरा।। १/१४३/४

कुछ लोग शुद्ध भक्तिपथ का आश्रय लेते हैं, कुछ लोग ज्ञानपथ का। मनु की साधना में ज्ञान और भक्ति दोनों का समन्वय है। ज्ञान का अभिप्राय है – ब्रह्म कैसा है? और भक्ति का अभिप्राय है – जैसा हम उसे चाहते हैं। ज्ञान के

द्वारा हम यह पता लगाते हैं कि ब्रह्म कैसा है; और भक्ति के द्वारा उसे हम वह रूप देते हैं, जो हमारे कल्याण के लिये या जो हमारे अन्त:करण के सन्तोष या तृप्ति के लिए अपेक्षित है। इन दोनों का वही समन्वय मनु के जीवन में है। इसके बाद उनकी साधना का क्रम प्रारम्भ हुआ – वे गोमती नदी के किनारे जा पहुँचे। उन्होंने हर्षित होकर निर्मल जल में स्नान किया। उन्हें राजर्षि जानकर मुनि लोग उनसे मिलने आए। मुनियों ने तीर्थों के दर्शन कराये। उनका शरीर दुर्बल हो गया था। वे मुनियों के से वस्त्र धारण करते थे और संतों के समाज में नित्य पुराण सुनते थे –

पहुँचे जाइ धेनुमति तीरा।
हरषि नहाने निरमल नीरा।।
आए मिलन सिद्ध मुनि ग्यानी।
धरम धुरंधर नृपरिषि जानी।।
जहँ जहँ तीरथ रहे सुहाए।
मुनिन्ह सकल सादर करवाए।।
कृस सरीर मुनिपट परिधाना।
सत समाज नित सुनहिं पुराना।।

राजा और रानी द्वादशाक्षर मंत्र का प्रेमसहित जप करते थे। उनका भगवान वासुदेव के पादपद्मों में खूब मन लगा –

द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग।। १/१४३

यह एक स्वतंत्र बड़ा लम्बा प्रसंग है। पहले वे गोमती नदी में स्नान करते हैं। जब आप साधना का श्रीगणेश करें, तो सर्वप्रथम गोमती में स्नान करें। गोमती क्या है? जो मति गाय के समान है। उत्तरकाण्ड में इसकी आध्यात्मिक व्याख्या है। वहाँ लिखा है – सात्त्विक श्रद्धा ही गोमती है –

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई।। ७/११७/९

किसी भी साधना का श्रीगणेश श्रद्धा से होता है। मनु-सतरूपा ने गोमती में स्नान किया। इसके बाद वे मुनियों के आश्रम में गये और उन्होंने कथा श्रवण किया। तो जीवन में हम त्याग की वृत्ति को स्वीकार करें और श्रद्धायुक्त अन्त:करण से सत्संग में जाकर पुराण की कथाओं का श्रवण करें। इसके बाद उनके जीवन में मन्त्रजप की साधना शुरू हो जाती है। साधना के सभी स्तरों को पार करते हुए वे अन्त में उस स्थिति में पहुँच जाते हैं कि जब उनका संकल्प पूरा हुआ और निर्गुण-निराकार ब्रह्म सगुण-साकार होकर उनके समक्ष आ गया। श्रीराम और सीताजी सामने खड़े हैं। यहाँ पर एक सूत्र गोस्वामीजी ने यह बताया कि मनु ने उनसे जो वरदान माँगा – मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ –

चाहउँ तुम्हहि समान सुत ... ।। १/१४९

प्रभु मुस्कराये, क्योंकि उनके समान तो कोई है ही नहीं – **न तस्य प्रतिमा अस्ति**, बोले – अब मैं अपनी तरह कहाँ ढूँढने जाऊँ, मैं स्वयं पुत्र बनकर जन्म लूँगा –

आपु सरिस खोजौं कहँ जाई।
नृप तव तनय होब मैं आई।। १/१५०/२

सतरूपाजी की ओर भगवान ने दृष्टि डाली। प्रभु बोले – अब आप कृपाकर वरदान माँगे, आप क्या चाहती हैं। सतरूपाजी ने कहा – जो वरदान चतुर राजा ने माँगा है, वह मुझे भी बड़ा अच्छा लगा –

माँगु देवि बर जो रूचि तोरें।
जो बरु नाथ चतुर नृप मागा।
सो कृपाल मोहि अति प्रिय लागा।। १/१४९/४

– तो क्या आप उसी में सन्तुष्ट है? – नहीं महाराज, उन्होंने जो माँगा वह तो मुझे प्रिय है ही, पर उसके साथ-साथ मेरी कुछ और माँग है। – क्या? – महाराज, आपके भक्तों को जो सुख मिलता है, जो भक्ति मिलती है, जो चरणों में स्नेह मिलता है, जो विवेक मिलता है, जो रहनी मिलती है, आप कृपा करके मुझे ये छह वस्तुएँ प्रदान कीजिए –

जे निज भगत नाथ तव अहहीं।
जो सुख पावहिं जो गति लहहीं।। १/१५०/८
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति
सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु
हमहि कृपा करि देहु।। १/१५०

मानो सतरूपाजी ने यह कहा – "मैं यह चाहती हूँ कि आप मेरे पुत्र तो बनें, पर विवेक अवश्य बना रहे कि आप भगवान हैं। कहीं मैं आपको पुत्र ही मान बैठने की भूल न कर बैठूँ।" ये सतरूपा ही आगे चलकर कौशल्या होती हैं। उनका जीवन महाराज दशरथ की अपेक्षा अधिक आगे बढ़ा हुआ है। यहाँ पर मनु की धारणा कुछ भिन्न प्रकार की है। जब सतरूपाजी ने विवेक की याचना की, तो भगवान ने मनु की ओर देखा। मनु ने कहा – मेरे वरदान में इनको भाग दीजिए पर इनके वरदान में मुझे भाग न दीजिएगा। आप इनके पुत्र बने, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है, पर इन्होंने जो विवेक माँगा है, वह विवेक मुझे बिल्कुल न दीजिएगा। बड़ी विचित्र मन:स्थिति है। वे चाहते हैं कि राम जब मेरे पुत्र बनें, तो मैं पूरी तरह से उन्हें पुत्र ही समझूँ। यदि मैं ईश्वर के रूप में उन्हें देखूँगा, तो शायद वात्सल्य की पूरी अनुभूति मुझे नहीं हो सकेगी। बात तो अपने स्थान पर सही है। उन्होंने कहा – मैं तो आपको बिल्कुल पुत्र ही समझूँ, अब चाहे संसार के लोग मुझे मूर्ख ही क्यों न समझें –

सुत बिषइक तव पद रति होऊ।
मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ।। १/१५१/५

एक बार मैं एक बड़ी संस्था में गया। वहाँ की छात्राओं ने एक नृत्य-नाटिका प्रस्तुत की थी। वहाँ के कुलपति ने

मुझसे कहा कि क्या आप विडियो-शो में वह नृत्य-नाटिका देखना पसन्द करेंगे? मैंने कहा – ठीक है। वह नृत्य-नाटिका मीरा के चरित्र को केन्द्र बनाकर की गई थी और मुझे बड़े रस की अनुभूति हो रही थी। मीरा की भावना इतनी साकार हो रही थी कि मेरी आँखों में आँसू भी आ जाते थे, बड़ी तन्मयता आ गई थी। सहसा कुलपतिजी को न जाने क्या सूझा कि जब उन्होंने मुझे भावविभोर देखा, तो बोल उठे – जो मीरा बनी हुई है, यह मेरे चपरासी की लड़की है। मैंने सिर पीट लिया। सोचा – क्या यही समय था यह बताने के लिये? वे तो इस दृष्टि से यह बताना चाहते थे कि इस छात्रा ने कितनी उन्नति की है, चपरासी की लड़की है, फिर भी कितनी योग्य है! परन्तु मेरा तो सारा रसभाव ही नष्ट हो गया। शिष्टाचार में कहना ही पड़ा – हाँ, बड़ी योग्य अभिनेत्री है। अभिनेत्री जब अभिनेत्री के रूप में दिखाई देने लगे, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि रस में बाधा पड़ेगी ही। नाटक देखते समय यदि कोई हर क्षण नाम ले लेकर बोलता रहे कि यह तो वो है, यह वो है, तो शायद आप नाटक का पूरा रस नहीं ले सकेंगे। मनु और सतरूपा में यही भेद है।

सतरूपा का पक्ष ज्ञान का पक्ष है। अन्ततोगत्वा नाट्य तो एक नाट्य ही है; परदे के पीछे जो सत्य है, वस्तुत: वही तो सत्य है। सतरूपा के हृदय में रस की प्यास होते हुए भी सत्य की जिज्ञासा अधिक प्रबल है। – "नहीं, मुझे आपके ईश्वरत्व का ज्ञान अवश्य बना रहे। मैं आपको मात्र अपना पुत्र मानकर केवल वात्सल्य रस की अनुभूति ही न करती रहूँ। क्योंकि यदि मुझे वात्सल्य रस ही पाना होता, तो इस जन्म में भी मैंने अनेक पुत्रों को जन्म दिया और उनसे मैंने वात्सल्य रस का सुख पाया और आपको भी पाकर मैं वही पाऊँ, तो फिर आपको पाने की क्या सार्थकता?"

सतरूपा का पक्ष सत्य से जुड़ा हुआ विवेक का पक्ष है और महाराज मनु का पक्ष आनन्द और रस का पक्ष है। उनका भाव यह था कि हमें इतनी तन्मयता मिलनी चाहिए कि जब मैं आपको पुत्र के रूप में पाऊँ, तो मैं चाहता हूँ कि मैं उसका पूरा आनन्द लूँ। भगवान ने मुस्कुरा कर उनकी ओर भी देखा और देखकर दोनों को स्वीकृति दे दी।

यहाँ एक बड़ा विलक्षण प्रसंग आता है। मनु जैसे एक महान् व्यक्ति, जिन्होंने ईश्वर को प्रत्यक्ष आँखों से देख लिया और ईश्वर ने जिनका पुत्र बनना स्वीकार कर लिया, ऐसा लगता है कि उनके लिये अब तो कोई उपलब्धि शेष नहीं है। पर बड़ा विचित्र प्रसंग है! भगवान ने मनु से कहा – पुत्र तो मैं बनूँगा, पर आपका अगला जन्म होगा। अगले जन्म में आप दशरथ बनेंगे। सतरूपाजी कौशल्या बनेंगी और तब मैं आपके यहाँ अपने अंशों के साथ जन्म लूँगा। भगवान श्रीराम ने यह वचन दिया, पर उसके बाद भगवान ने एक विचित्र आज्ञा दे दी। बोले – जन्म लेने के पहले आप शरीर छोड़कर स्वर्ग में चले जाइए। यहाँ तक भी कहते तो कोई बात नहीं थी। भगवान ने अगला वाक्य कहा – स्वर्ग में जाओ, और स्वर्ग के विशाल भोगों को भोगो –

अब तुम्ह मम अनुसासन मानी।
बसहु जाइ सुरपति रजधानी।।
तहँ करि भोग बिसाल तात गयें कछु काल पुनि।
होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत।। १/१५१

भगवान कहते – और तप करो, तो भी बात ठीक थी। कह देते स्वर्ग में जाओ, तो भी बात छिपी रह जाती। पर उनका खुलकर यह कहना कि तुम जाकर स्वर्ग के भोगों को भोगो। इसका क्या तात्पर्य है? यह एक जटिल समस्या है, जो बहुधा साधकों के जीवन में आती है और उसका समाधान सचमुच बड़ा कठिन है। समस्या यह है कि अन्त:करण में जो वृत्तियाँ हैं, उनमें से दुर्गुणों की कुछ वृत्तियों को आप मिटा सकते हैं और कुछ को आप दबा सकते हैं। मिट जाने पर तो उनसे कोई भय नहीं है, पर जिन वृत्तियों को आपने विवेक या बल के द्वारा दबा दिया है, बड़ी सम्भावना है कि वे अवसर पाकर जीवन में प्रकट हो जायेंगी। अत: कई बार साधकों और श्रेष्ठ लोगों के जीवन में कई कमियाँ दिखाई देती हैं, तो लोगों को आश्चर्य होता है कि इतनी उच्च साधना के बाद ऐसी कमियाँ कैसे? पर यह स्वाभाविक क्रम है।

मनु का विचारजन्य वैराग्य है। भगवान को अनुभव होता है कि मनुजी के जीवन में जो वासनाएँ थीं, उनको उन्होंने मिटाया नहीं है, दबा दिया है। भगवान उन्हें पुन: एक मौका देते हैं कि हम फिर मिलेंगे, पर उसके पहले तुम स्वर्ग में जाकर अपनी दमित भोगवृत्ति, कामनाओं को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करो। तुम्हारे मन से जब भोगों का आकर्षण मिट जायगा, तब तुम दशरथ के रूप में जन्म लेना और मैं तुम्हारा पुत्र बनूँगा। बात बड़ी अटपटी है। इसके आधार पर कोई भी व्यक्ति कह सकता है कि भोगों को दबाना बुरा है, अत: भोगों को भोगने की चेष्टा करनी चाहिए। पर भगवान का लक्ष्य यह था कि आगे चलकर पता चल जाय कि स्वर्ग के भोगों को भोगने पर भी वासनाएँ दूर नहीं होती। भोग को भोगकर मन को सन्तुष्ट करना भी एक पद्धति है। पर विषय-भोग घी और कामनाएँ अग्नि के समान हैं। अग्नि में घी डालें तो वह और अधिक प्रज्वलित होती है, वैसे ही भोग भोगने पर भी भोग की लालसा बढ़ती जाती है –

बुझै न काम अगिनि तुलसी
कहुँ बिषय भोग बहु घी ते।। वि. प., १९८

मनु स्वर्ग गये। उन्होंने वहाँ के सुखों को भोगा। ऐसी स्थिति में उनकी भोग की वासना मिट जानी चाहिए थी। परन्तु यह एक बड़ा कठिन पक्ष है। ❖ **(क्रमश:)** ❖

कृष्णं वन्दे जगदगुरुम्

आचार्य डॉ. रमेशचन्द्र यादव 'कृष्णा'

महाभारत ग्रन्थ में चित्रित तथा भगवद्गीता के ज्ञान-कलेवर में से झाँकते हुए श्रीकृष्ण ही वे ऐतिहासिक महापुरुष हैं, जो जगद्गुरु के रूप में प्रतिष्ठित हैं और महावीर स्वामी तथा गौतम बुद्ध आदि के भी अग्रगामी पथ-प्रदर्शक हैं।

संसार के सर्वाधिक वीर पुरुष स्थितप्रज्ञ, वेद-वेदान्त-तत्त्वज्ञ मनीषी श्रीकृष्ण को अपने ही देश के लोगों ने उनके सर्वांगीण व्यक्तित्व को भुला रखा। इस पाप कर्म की सजा भी राष्ट्र को बड़ी कड़ी मिली और वह एक हजार वर्ष तक गुलामी की जंजीरों में जकड़ा रहा। उसकी रीढ़ हिल गयी। दमामय प्रभु को दया आयी। उसने दिव्यद्रष्टा मनीषियों को भेजा। उन्हें श्रीकृष्ण के तेजस्वी, गीता के सिंहनादकारी, पांचजन्य-चक्रधारी दुष्ट दलनकारी रूप को उजागर किया। जाम्भो जी, आचार्य वल्लभ, समर्थ गुरु रामदास, ऋषि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, योगी अरविन्द, डॉ. हेडगेवार, वीर सावरकर, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, भाई परमानन्द, लाला लाजपतराय, स्वामी रामतीर्थ इसी कोटि के महापुरुष थे। राष्ट्र पर जब-जब विपत्ति आई है, तब-तब राष्ट्र ने गीता के प्रवक्ता चक्रधर, पार्थ सारथि असुर-दल संहारक, धर्मसंस्थापक श्रीकृष्ण को याद किया है।

भारत के बच्चे-बच्चे में श्रीकृष्ण का ज्ञान और अर्जुन का शौर्य भर देने वाले 'गीता-रहस्य' के अन्तर्गत कर्मयोग के महान व्याख्याता लोकमान्य तिलक ने गीता के आधार पर क्रान्तिकारियों का मार्ग-दर्शन किया। अत: उनके एक हाथ में गीता और दूसरे में बम या पिस्तौल रहता था। प्रत्येक क्रान्तिकारी की जिह्वा पर 'नैनं छिन्दति शस्त्राणि' का गीतोक्त मंत्र नाचता रहता था। यह बात सर्वविदित है कि स्वामी विवेकानन्द, योगी अरविन्द, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी और सन्त विनोबा हर समय गीता अपने पास रखते थे और उससे मार्ग दर्शन प्राप्त करते थे। साथ ही विश्व भर के श्रेष्ठ चिन्तक सन्त थारो, इमरसन, एफ.टी. ब्रुक्स, आरनॉल्ड, शॉपेनहॉवर आदि भी श्रीकृष्ण की वाणी भगवदगीता के अमृत-समुद्र में स्नान कर अपने जीवन को धन्य कर रहे थे तथा इस ईश्वरीय वाणी का अपनी-अपनी भाषाओं में अनुवाद कर अपनी संस्कृति को पूर्णता प्रदान कर रहे थे।

महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि से पता चलता है कि श्रीकृष्ण ने १२५ वर्ष की आयु तक राष्ट्रसेवा की। अनेक महान प्रयोग किये। श्रीमद्भागवत से पता चलता है कि श्रीकृष्ण ११ वर्ष तक गोकुल अथवा वृन्दावन में रहे –

ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्विबिभ्यता।
एकादश समास्तत्र गूढर्चिः सबलोऽवसत्।।

भागवत ३/२/२६

ग्यारहवें वर्ष में वे अपने अग्रज बलरामजी के साथ मथुरा चले आये। इतिहासकार चिन्तामणि विनायक वैद्य (महाभारत-मीमांसा तथा श्रीकृष्ण चरित्र) के अनुसार ११ से १८ वर्ष के बीच में श्रीकृष्ण ने बड़ी भारी तैयारी करके मथुरा अथवा शूरसेन-मण्डल के जनमत को अपने पक्ष में करके १८ वर्ष की छोटी सी ही आयु में भारत के सबसे भयंकर, निरंकुश और शक्तिशाली गुट के अधिनायक कंस को उसकी राजधानी में सारी सत्ता के रहते हुए भी सिंहासन से उठाकर फेंक दिया और युद्ध करके मार डाला। अब उनकी आयु का प्रत्येक वर्ष अथवा माह ही नहीं, अपितु प्रत्येक दिन ही कंस के गुट में सम्मिलित लोकपीड़क राजाओं – जरासंध, शिशुपाल भौमासुर, पाण्ड्यराज कालान्तर में दुर्योधन आदि आदि से भारत के राजनीतिक क्षितिज को मुक्ति दिलाने में बीता। सारे राष्ट्र का एकीकरण करने और एक सशक्त केन्द्रीय लोक-कल्याणकारी साम्राज्य की स्थापना और उसकी सुरक्षा में बीता। साम्प्रदायिक मतभेदों को दूर कर धार्मिक समन्वय के द्वारा धार्मिक जगत् को वरेण्य बनाया। नर-बलि का विरोध किया। १६००० कन्याओं को भौमासुर के चंगुल से मुक्त कराया। ८६ राजाओं को जरासंध की कैद से छुड़ाया। धार्मिक आडम्बरों को दूर कर यज्ञीय जीवन जीने की कला सिखायी। निष्काम कर्मयोग का मार्ग प्रशस्त किया। इन्द्रप्रस्थ को भारत राष्ट्र की राजधानी के रूप में स्थापित किया और आज तक उसे यह गौरव प्राप्त है।

श्रीकृष्ण ११ वर्ष तक गोकुल में रहे। यह उनके जीवन का स्वर्णिमकाल था। प्रकृति की गोद में खेलना-नाचना-कूदना, गोचारण करना, मक्खन छीन-झपट कर खाना, प्रेम की बाँसुरी की तान से सारे वातावरण को आह्लादित करना उनका नित्य-प्रति का कर्म था। इन वर्षों में भी उन्होंने भावी जीवन की भारी तैयारी की थी। मल्ल-विद्या का अभ्यास किया था। बिखरे हुए गोप समाज को संगठित किया था। इतना संगठित कि इन्द्र भी हार कर माधव के चरणों में झुकने को विवश हो गए। श्रीकृष्ण ने गोवंश की वृद्धि के लिये जन-मन में प्रेरणा जगायी। जन-जीवन के शत्रुओं – पूतना, शकटासुर, अघासुर, तृणावर्त, कालिय नाग, केशी, वत्सासुर आदि का पराभव कर कंस का शक्ति-संतुलन डगमगा दिया। गोकुल के दूध-दही आदि का मथुरा जाना तथा युवा स्त्रियों का मथुरा के बाजार में गोरस बेचने जाना

तथा यमुना में कन्याओं का नग्न स्नान करना निषिद्ध कर दिया। छोटी-सी ही अवस्था में साम्राज्यवादियों के विरुद्ध एक सशक्त असहयोग आन्दोलन छेड़ दिया, जो फिर कभी मन्द नहीं पड़ा, श्रीकृष्ण की आयु के साथ-साथ पल-पल वह बढ़ता ही गया। उन्होंने प्रत्येक अत्याचारी शासक को राजनीतिक मंच से उखाड़ फेंका, किन्तु किसी का राज्य स्वयं नहीं लिया, उसके उत्तराधिकारियों को ही सौंप दिया। उन्होंने हर मोर्चे पर बुराई के विरुद्ध युद्ध किया। जूआ, सुरापान, आखेट, कामाचार, नारी-शोषण (१६००० कन्याओं को भौमासुर की कैद से मुक्त कराया)। पशु-बलि, नर-बलि और जरासंध की कारा से ८६ राजाओं को छुड़ाया। उनकी संख्या १०० होने पर वह पशुपति को उनकी बलि देना चाहता था। धार्मिक विद्वेष, वेद-वाद-रत लोगों के आडम्बरप्रिय जीवन – सभी के विरुद्ध उन्होंने संघर्ष किया। बुराई रूपी नाग के प्रत्येक फन पर मनमोहन ने नृत्य किया। उसके फनों को लहुलुहान किया, उसे झुकने पर विवश किया। गीता के महादान द्वारा संसार को सहिष्णुता और सर्वधर्म-समभाव का उपहार प्रदान किया। स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म की इस सर्वश्रेष्ठ देन – श्रीकृष्ण के इस महादान की चर्चा विश्वमंचों से की। ११ सितम्बर १८९३ ई. सोमवार को शिकागो की सर्व-धर्म परिषद में उन्होंने सगर्व कहा – 'यह सभा जो अभी तक आयोजित सर्वश्रेष्ठ पवित्र सम्मेलनों में से एक है, स्वत: ही गीता के इस अद्भुत उपदेश का प्रतिपादन एवं जगत् की प्रति उसकी घोषणा है :

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। गीता ४/११

'जो कोई मेरी ओर आता है – चाहे किसी प्रकार से हो, मैं उसको प्राप्त होता हूँ। लोग भिन्न-भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अन्त में मेरी ही ओर आते हैं।'

वे मथुरा में प्रवेश करते हैं। एक अशिष्ट राजसेवक धोबी उनसे उलझ पड़ता है। श्रीकृष्ण केवल कराग्र (थप्पड़) से ही उसका सिर धड़ से अलग कर देते हैं। केवल हथेली से सिर काट देना – इस एक घटना से ही उस मल्ल-विद्या के अभ्यास की गम्भीरता, गोपनीयता और विरलता का अनुमान किया जा सकता है, जिसका अभ्यास उन्होंने व्रज में गौएँ चराते, हँसते-खेलते और नाचते-कूदते किया था। वंशी की ध्वनि से ही कोसों दूर गयी हुई गौओं-वत्सों को अपने पास बुला लेना वाद्य-विद्या का अनुपम चमत्कार है। कालिय नाग के फनों पर नृत्य करना नृत्य-कला की पराकाष्ठा है। वंशी के नाद से वृक्षों-लताओं को अपने चरणों में झुका लेना, यमुना के जल को स्तम्भित कर देना, मयूर आदि को आकर्षित कर लेना संगीत की चरम सीमा है। जिस दृष्टि से भी देखें, श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व आश्चर्यजनक रूप से विकसित दिखायी पड़ता है।

श्रीकृष्ण-चरित्र का अध्ययन करनेवालों को यह तथ्य रेखांकित और हृदयगंम करना चाहिये कि श्रीकृष्ण ने कंस को अपनी व्यक्तिगत शत्रुता के कारण नहीं अपितु लोककल्याणार्थ तथा गणराज्य पुनरुद्धार हेतु मारा था, जिससे कि फिर कोई दुष्ट व्यक्ति राजमद में अन्धा होकर लोक-भावना को ठोकर मार कर बलात् अधिनायक न बन बैठे। वह इतना दुस्साहसी न बन जाय कि अपने बाप, बहनोई तथा बहन आदि को भी जेल के सीखचों में ठूँस दे और समाज से उसकी सर्वाधिक बहुमूल्य वस्तु 'अभिव्यक्ति' की स्वतन्त्रता छीन ले। लोक देव श्रीकृष्ण ने हस्तिनापुर की राजसभा में स्पष्ट कहा था कि जैसे मैंने अत्याचारी कंस का वध करके प्रजा की रक्षा की थी, वैसे ही आप कौरव प्रमुखों – भीष्म, धृतराष्ट्र आदि को चाहिये कि आप हठी दुर्योधन से जीवित रहने का अधिकार छीन लें, तो भारत राष्ट्र की आत्मा घायल होने से बच जायेगी। माताओं के लाल, बहनों के भाई, गुरुओं के शिष्य, पत्नियों के पति, बच्चों के अभिभावकों के रक्त से रंजित होने के महापाप से धरती बच जायेगी।

नन्द जैसे लाखों गौओं के अधिपति के पुत्र (पाल्यपुत्र) होते हुये भी स्वर्णाभूषणों, बहूमूल्य वीणा, ३६ प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनों का मोह नहीं दिखाते, अपितु ग्राम सुलभ बाँस की बाँसुरी, कमलपुष्प, बैजयन्ती माला, मोरपंख तथा दूध दही-मक्खन को ही महत्त्व देते हैं। इन क्षेत्रों में श्रीकृष्ण के जीवन की छाप इतनी गहरी पड़ी है कि कहीं दूध, दही, देशी घी अथवा देशी घी की मिठाइयों का पट्ट (बोर्ड) लगा होगा, तो वहाँ श्रीकृष्ण और गाय का भी चित्र बना होगा। कहीं होली, नृत्य, संगीत, चित्रकला मूर्तिकला का आयोजन होगा, तो वहाँ श्रीकृष्ण और राधा की जोड़ी अवश्य मिलेगी। कहीं आदर्श मित्रता की चर्चा होगी, तो जन-मानस में श्रीकृष्ण-सुदामा, श्रीकृष्ण-अर्जुन की युगल छवि शोभायमान मिलेगी। कहीं बच्चे के जन्म की प्रसन्नता में गीत गाये जा रहे होंगे, तो संसार का सबसे प्यारा दुलारा कन्हैया यशोदा मैया के साथ आपको वहाँ विराजमान मिलेगा। सुधीजन, ब्रह्मज्ञानी, पण्डित, प्रवचन-कर्ता कहीं आत्मा-परमात्मा, कर्म-अकर्म-विकर्म की चर्चा कर रहे होंगे, तो वहाँ पार्थसारथी भक्त अर्जुन के माध्यम से आपका पथ-प्रदर्शन करते हुए उपस्थित मिलेंगे।

जहाँ युद्ध सन्धि, राजनीतिक दावपेंच की चर्चा होगी, वहाँ भी महाभारत के नायक आपको मार्गदर्शन करने हेतु सन्नद्ध मिलेंगे। जहाँ प्रेम और मल्लविद्या का प्रसंग हो, वहाँ भी कृष्ण-कन्हैया आपका पथ आलोकित करते हुए मिलेंगे। वस्तुत: आदि से अन्त तक श्रीकृष्ण प्रत्येक परिस्थिति में आपके साथ रहेंगे। ❑❑❑

सारगाछी की स्मृतियाँ (१)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा देवी के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

प्रस्तावना

१९५८ ई. में मुझे सारगाछी रामकृष्ण मिशन आश्रम से सम्पर्क स्थापित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह आश्रम श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव के अन्तरंग शिष्य स्वामी अखण्डानन्द महाराज जी के जीवन की तपस्या का फल है। रामकृष्ण मिशन में 'शिवज्ञान से जीव सेवा' का प्रारम्भ इसी आश्रम से ही हुआ। १९५८ ई. में वहाँ के अध्यक्ष श्रीश्रीमाँ के शिष्य स्वामी सुखदानन्द महाराज जी थे। उसी समय उस आश्रम में माँ के एक दूसरे वरिष्ठ संन्यासी शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज निवास करते थे। उनके द्वारा लिखित बंगला भजन 'अरूप सायरे' 'बंगहृदय गोमुखी से', 'अयुत कण्ठे वन्दना गीति' आदि भजन श्रीश्रीमाँ, राजा महाराज, महापुरुष महाराज, मास्टर महाशय (श्रीम) के द्वारा विशेष समादरणीय हुआ है। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा लिखित पुस्तकें, विविध रचनायें और पत्र-संग्रह असंख्य श्रीरामकृष्ण अनुरागियों में प्रशंसनीय एवं आदरणीय है।

१९३७ ई. में स्वामी अखण्डानन्द की महासमाधि के बाद बेलूड़ मठ के संचालकों ने स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज को सारगाछी आश्रम का अध्यक्ष नियुक्त कर भेजा था। कुछ दिन आश्रम में सेवा करने के बाद हिमालय में तपस्या में कुछ समय उन्होंने व्यतीत किया। किन्तु वहाँ अस्वस्थ होने के कारण सारगाछी आश्रम के तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी सुखदानन्द महाराज उनको ससम्मान सारगाछी आश्रम में ले आये। स्वामी प्रेमेशानन्द जी अपने अपूर्व व्यक्तित्व, विद्वत्ता, मधुर व्यवहार, वक्तृता, भाषाशैली एवं मातृ-सुलभ ममता के कारण शीघ्र ही एक आकर्षक व्यक्तित्व के रूप में प्रसिद्ध हो गये। इसके कारण कलकत्ता, मद्रास (चेन्नई) एवं अन्यान्य स्थानों से अनेकों युवक-युवती, वृद्ध-विद्वान आदि विभिन्न समयों में उनके पास आया करते थे। वे लोग महाराज जी से ज्ञान, भक्ति, कर्म और अन्यान्य विषयों में प्रश्न किया करते थे एवं महाराज जी भी उनके उत्तर में महत्वपूर्ण चर्चा किया करते थे, जिसका आधार उनका शास्त्रज्ञान एवं उनकी तपस्या थी। शाम को पूज्य महाराज जी के साथ टहलना था, स्वामी श्रद्धानन्द जी के शब्दों में – 'एक विश्वविद्यालय की शिक्षा'। कभी-कभी वे स्वयं किसी आध्यात्मिक और सामाजिक विषयों में नया दृष्टिकोण प्रदान करते थे।

मैं जब सारगाछी आश्रम में आया, तब वे वृद्ध एवं बहुत अस्वस्थ थे। लगभग प्रतिदिन या २-३ दिन के अन्तराल में बहरमपुर से डॉक्टर उनके शारीरिक परीक्षण एवं चिकित्सा करने के लिये आया करते थे। बहरमपुर से सारगाछी लगभग ८ किमी. दूर है। यातायात के लिये केवल रिक्शा एवं दिन भर में एक या दो बसें मिलती थीं। बहरमपुर से प्राय: प्रतिदिन ८-१० अनुरागी भक्त उनके पास आया करते थे और वे भी बड़े उत्साह से उन लोगों के साथ, धर्म, मोक्ष, समाज-व्यवस्था आदि विभिन्न विषयों पर चर्चा किया करते थे। प्राय: अधिकांश क्षेत्रों में वे ही मुख्य वक्ता रहते थे। परिवेश और व्यक्ति-विशेष के अनुसार चर्चा के विषय-वस्तु में परिवर्तन होता रहता था। चूँकि मैं ब्रह्मचारी के रूप में सारगाछी आश्रम में सेवा कर था, इसलिये मुझे कार्य के बीच में पूजनीय महाराज जी के साथ कुछ सत्संग करने का और दूसरों के साथ महाराज जी का सत्संग सुनने का अवसर प्राप्त हुआ था।

ऐसा लगता था कि पूजनीय महाराज जी की बातें मेरे व्यक्तिगत जीवन के कार्य में आयेंगी। चूँकि मुझे अपनी स्मरण-शक्ति पर बहुत विश्वास नहीं था, इसलिये कुछ-कुछ बातें जो विशेष रूप से अपने लिये आवश्यक लगती थीं, उसे अपने लिये लिखकर रखता था। इसे लिखकर रखना भी उतना आसान नहीं था। इस प्रसंग में मैं एक घटना का उल्लेख करता हूँ।

सारगाछी आश्रम में आकर जब पूजनीय महाराज जी की दो चार बातें सुनकर आश्चर्यचकित हो गया और मुझे लगा कि स्कूल-कॉलेज में इस तरह की किसी ने कोई बात नहीं कही, तब उनके कमरे के बाहर एक खाट को टेबल बनाकर, जमीन पर बैठकर उनकी कुछ बातें लिखा करता था। एकदिन महाराज अपने कमरे में दूसरे लोगों से बातें कर रहे थे। अचानक बाहर आकर उन्होंने मुझसे पूछा – "क्या कर रहे हो?" मैं गर्व से बोला – "आपकी बातें लिख रहा हूँ।" उन्होंने कहा – "कहाँ है, दिखाओ तो।" लेख को उनके हाथ में देते ही उन्होंने उसे टुकड़े-टुकड़े कर फाड़

डाला और नाचते हुए हाथ घुमाकर कहने लगे –

प्रभु घुरिया घुरिया मुतिला ।

भक्तगन कहे प्रभुर एऊ एक लीला ।।

– 'प्रभु ने घुम-घुम कर पेशाब किया । भक्तगण कहते हैं कि यह भी प्रभु की एक लीला है ।' क्या तुमने सोचा है कि प्रेमेशानन्द-वचनामृत की रचना करोगे? सोचा है कि नाम-यश होगा! ठीक से सुन लो, हमलोगों के आदर्श ठाकुर, माँ और स्वामीजी हैं और अधिक-से-अधिक उनके अन्तरंग शिष्य हैं, नहीं तो आदर्श छोटा हो जायेगा ।

इस घटना के बाद कुछ लिखकर रखना कठिन था । यद्यपि मुझे प्राय: २४ घंटे महाराज की सेवा में रहना पड़ता था, अत: कुछ लिखने का समय और सुयोग बहुत कम ही मिलता था, तथापि लोभ का संवरण नहीं कर सका, महाराज जी के निर्देश की उपेक्षा कर सभी के अनजाने में रात में लालटेन का प्रकाश कम कर कुछ बातें लिखकर रखा था ।

चूँकि इस विषय में महाराज जी का स्पष्ट निर्देश था, इसलिये ये सब बातें अत्यन्त गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था एवं स्वयं एक दो बार पढ़ा था । अर्धशताब्दी के बाद उन पुरानी बातों को देखने पर ऐसा लगा कि इनमें से कई बातें किसी-किसी सत्यान्वेषी साधक के लिये विशेष उपयोगी होंगी । इनमें से कौन-कौन सी बातें मेरे स्वयं के लिये उपयोगी हैं, उसे मैं समझ पा रहा हूँ, किन्तु दूसरों के लिये क्या उपयोगी है, उसे ठीक से नहीं समझ सकने के कारण, पचास वर्ष पहले एक अपरिपक्व युवक ने प्रतिकूल परिवेश में जो कुछ लिखा था, वही पाठकों के समक्ष रख रहा हूँ, उसे ग्रहण और त्याग करने का उत्तरदायित्व पाठकों का है ।

यदि मैं आज लिखता, तो निश्चय ही मेरे अनुभव और शिक्षा के संमिश्रण से वह एक नये प्रकार का होता । हो सकता था कि उसमें थोड़ा बहुत संशोधन हो जाता, किन्तु प्रेमेशानन्द जी महाराज की स्मृति की प्रतिष्ठा नहीं मिलती । इसी डर से पचास साल के अन्तराल में भी विशेष कुछ नहीं लिख सका ।

इसे प्रकाशित करने का एक दूसरा कारण भी है । १९६६ ई. में पूजनीय प्रेमेश महाराज वाराणसी में थे एवं दूसरे वर्ष ही उन्होंने शरीर-त्याग कर दिया । शरीर त्याग के पूर्व वे आँखों से देख नहीं पाते थे, चल फिर नहीं सकते थे, पैर के साथ दोनों हाथ भी अचल, पंगु हो गये थे । सभी कार्य सेवक ही कर देता था । उसी समय एक दिन मैं पूजनीय महाराज जी की बातें पढ़ रहा था । मैंने साहसपूर्वक उनसे कहा – "महाराज, आपके मना करने के बाद भी मैं आपकी कुछ बातें लिखकर रखा हूँ, क्या आप थोड़ा सुनेंगे कि वह सब ठीक लिखा हूँ या नहीं? शायद सेवक को खुश करने के लिये ही महाराज ने कहा – "पढ़ो" । कुछ अंश सुनने के बाद उन्होंने कहा – "अच्छा ही किया है ।" इसलिये इन बातों को प्रकाशित करने का यह सत्साहस मुझे मिला है ।

मैंने पहले ही उल्लेख किया है कि मैं प्रतिकूल परिवेश में भी प्रेमेश महाराज की बातें लिखकर रखने का प्रयास कर रहा था । समय नहीं मिलता था, सुयोग भी नहीं मिलता था और इसके अतिरिक्त मेरी क्षमता भी नहीं थी, कि ये सब बातें सुव्यवस्थित ढंग से लिखकर रखूँ । इसलिये पढ़ते-पढ़ते शब्दकोश पढ़ने जैसा कहीं ऊबाऊ भी लग सकता है । शब्दकोश की सभी बातें, सभी को, सब समय आवश्यक न रहने पर भी उसे रखना पड़ता है, क्योंकि कब, किस समय जरूरत पड़ जाय ।

१०-८-५८ से २२-८-५८

(प्रारम्भ में तिथि देकर लिखना सम्भव नहीं हुआ था ।)

महाराज सेवक को एक दिन कह रहे हैं – "तुमने ईश्वर में मन लगाने इच्छा की है, किन्तु नहीं कर पा रहे हो । क्योंकि इसका कारण, पूर्वजन्म के संस्कार – काम, क्रोध, मोह हैं । फिर भी जानते हो, भगवान से प्रार्थना करने पर इनका प्रभाव थोड़ा कम हो जाता है । इसके अलावे, मैं तो रातोरात मुक्त-पुरुष नहीं हो सकता । मेरी जो शक्ति है, मुझे तो उसी के अनुसार ही आगे बढ़ना है । उसकी शक्ति अधिक है, वह शीघ्रता से जा सकता है, तो वह आगे चले । किन्तु मेरा लक्ष्य ठीक रहना चाहिये । मैं काशी जाऊँगा ही । मैं अपनी थोड़ी-सी शक्ति से ही कोशिश कर रहा हूँ, क्या माँ उसे नहीं देख रही हैं?

"आश्रम में एक कुली सिर पर सामान रखकर ले जाने के लिये आया है । साथ में एक छोटा-सा लड़का है । वह जी-जान से पिताजी की थोड़ी सहायता करने के लिये कोशिश कर रहा है । वह नहीं कर पा रहा है, फिर भी सामान नहीं छोड़ रहा है । तब उसके पिताजी ने हँसकर उसके हाथों से सामान ले लिया और अपनी सिर पर रखी हुई टोकरी में डाल दिया ।"

प्रश्न – तो फिर, क्या कृपा की आवश्यकता है?

महाराज – "कृपा-कृपा' कौन लोग करते हैं, जानते हो? जिन लोगों का भगवान में ठीक-ठीक मन नहीं लगा है । अर्थात् भगवान यदि दया करके ले सकें, तो ठीक है, नहीं तो, मैं इ-त-ना न-हीं क-र स-कूँ-गा । जिसका भगवान से अनुराग – प्रेम हो जाता है, उसका भाव होता है – मैं भगवान को पुकारूँगा ही । मैं अपनी प्रिय वस्तु को पुकारे बिना नहीं रह सकता । बचपन में अपने यहाँ देखा था, पड़ोसी का एक लड़का स्कूल से वापस आते समय घर के पास आकर चिल्ला कर कहता था, 'माँ

खाने को दो।' जिसको भूख नहीं लगी हो, उसे खाना देने पर भी, वह नहीं खायेगा। जैसे ठाकुर के समय में हुटको गोपाल था। बीच-बीच में आता था और फिर से भाग जाता था। ठाकुर का शरीर जाने के उपरान्त सभी लोगों ने मिलकर उसे रोका, किन्तु वह पेशाब करने के बहाने भाग गया। भूख नहीं लगने से खीर भी अच्छी नहीं लगती है। खेल के बाद थक जाने पर, भूख लगने से तब कहता है, 'माँ, मुझे खीर दो।''

२९-९-५८

महाराज कहने लगे – ''तुम अँग्रेजी पढ़े-लिखे बाबू लोगों से बड़ा डर लगता है। जो सरल और मूर्ख होता है, उसे गुरुजी जो आज्ञा देते हैं, वह सहज विश्वास के साथ उसका पालन करता है, किन्तु तुम लोग अपनी-अपनी बुद्धि से विचार कर के सब कुछ बिगाड़ देते हो। तुम्हारी स्नायु मजबूत है, किन्तु उसमें प्राण-शक्ति ऊर्जा का अभाव है, तुम उसे विचार के द्वारा भर सकते हो। विचार करते-करते एक-एक पंचकोश को खोल देना होगा। इसलिये लोक-प्रदर्शन हेतु जप-धर्म-कर्म नहीं करना चाहिये।

''मैं द्रष्टा, साक्षी हूँ। प्राण, मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियों के परस्पर सहयोग से काम चल रहा है। मैं केवल देख रहा हूँ। उसी अखण्ड चैतन्य का विचार करते-करते ५० वर्षों के भीतर अचानक समझ जाओगे।

''यदि तुम लोगों को पौष्टिक आहार (Substantial Food) दे पाता, तो १२ साल के भीतर थोड़ी समाधि करा देता। ध्यान रखना कि तुम लोगों की प्राणशक्ति का लेश-मात्र भी व्यर्थ न जाय। बिना कारण किसी को नाराज कर अपने आपको परेशान मत करना। एक दिन किसी को नाराज करने के बाद ध्यान करने बैठो, तब तुम्हें समझ में आयेगा कि किसी को नाराज करने का क्या फल होता है। मन कैसा हो गया है, समझ सकोगे।

''तुम लोग तो घी आदि नहीं खाते हो, इसलिये जो भी वीर्य संचय हो रहा है, वह थोड़ा-सा भी व्यर्थ नष्ट न होने पाये। ध्यान करने से कितना जोर पड़ता है, उसे जानते हो तो ! सिर टन-टन करने लगेगा।''

सेवक के द्वारा आश्रम की अनेकों अव्यवस्थाओं के बारे में बोलते ही महाराज ने कहा – इस जगत में कौन कितने नीचे गिर गया, इस सूचना से तुम्हें क्या करना है? तुम अपनी ओर ध्यान दो। इस संसार में ढोंगी साधुओं की कमी नहीं है। कितने प्रकार से धोखेबाजी करके ढोंगी साधु लोग दूसरे लोगों को ठगते हैं, इसका कोई हिसाब नहीं है। किन्तु जो लोग ठगे जाते हैं, वे लोग भी वैसे ही हैं, उनलोगों को भी ठगाना ही अच्छा लगता है। वे लोग अपनी बुद्धि का उपयोग नहीं करते।

''संन्यासियों को कभी भी गृहस्थों के साथ अधिक मिलना-जुलना नहीं चाहिये। वे लोग संन्यासियों के भाव को नहीं समझ पाते हैं। मेरे द्वारा पत्र लिखना देखकर इन सज्जन ने कहा कि इससे लोगों के साथ संबंध बना रहता है और वे लोग रुपये भेजेंगे और ये सज्जन कहते हैं कि मैं लोगों का मन समझकर बात करता हूँ, जिससे वे लोग हाथ में रहें। उन लोगों के कैसे समझाऊँ कि साधु-महात्मा समदर्शी होते हैं। इसलिये अधिक मिलने-जुलने से दोनों की क्षति होती है।

''साधारण लोगों को कुछ समझाना बड़ा कठिन है। इसीलिये तो पुराण-शास्त्र हमलोगों को बढ़ा-चढ़ाकर कहते हैं। भगवान के लिये बहुत कुछ त्याग करना पड़ता है, इसे वे कैसे समझायेंगे? उन्होंने कहा कि एक व्यक्ति साठ हजार वर्षों तक सिर नीचे करके तपस्या किया था। अब गाँव का सीधा-सादा व्यक्ति मुँह हा..ऽ..ऽ करके, आँखें बड़ी-बड़ी करके कहेगा – बाप रे ! वह एक बार भी विचार नहीं करेगा कि इसका क्या अर्थ हो सकता है।

''इस संसार में कोई भी खराब नहीं है। खराब का अर्थ है, उसे वहाँ ठीक, अनुकूल नहीं लग रहा है। यदि उसे उसके अनुकूल स्थान दे दिया जाय, तो वह चमक जायेगा। इसलिये सबके साथ मिल-जुलकर बुद्धिमान के समान चलना। यदि सभी लोग एक ही भाव के हों, तो विकास बहुत शीघ्र होता है। जैसे मान लो, सभी एक साथ उठे, ठाकुर-मंदिर के भांडार का कार्य सबने मिलकर किया, दूसरों का सहयोग कर उनके सुख-दुख में शामिल हो गये। नहीं तो, अविवाहित पुरुषों की तरह रहना, साधु सजना और भन-भन करके केवल यन्त्रवत जप करने जैसा ही होगा।

''मैंने सुना है कि एक व्यक्ति अपने घर में मेरा एक चित्र रखा है। यह सुनकर मैं नाराज होता हूँ। फिर, वह रजोगुणी है, इसलिये उसे कुछ नहीं कहता हूँ।'' ❖ **(क्रमशः)** ❖
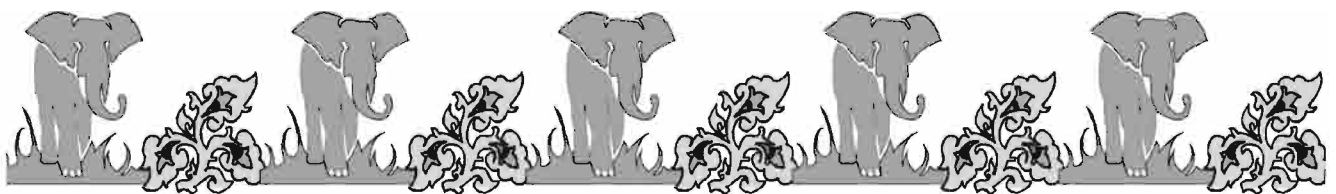
पुस्तक समीक्षा

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

श्रीरामकृष्ण-चरित-मानस (द्वितीय एवं तृतीय भाग)
लेखक - स्वामी रामतत्त्वानन्द
प्रकाशक - डॉ. ओमप्रकाश वर्मा
सचिव, विवेकानन्द विद्यापीठ,
रामकृष्ण परमहंस नगर, कोटा,
रायपुर - ४९२ ०१० (छत्तीसगढ़)
ग्रन्थ पृष्ठ - द्वितीय भाग १०+१७२ = १८२
तृतीय भाग ७+१९८ = २०५
ग्रन्थ का मूल्य - प्रत्येक भाग - ६०/-

श्रीरामकृष्ण समर्पित जीवन रामकृष्ण मिशन के संन्यासी स्वामी रामतत्त्वानन्द जी महाराज द्वारा विरचित अनुपम ग्रन्थ श्रीरामकृष्ण-चरित-मानस का द्वितीय एवं तृतीय भाग भी बहुत शीघ्र प्रकाशित हो गया है। पाठकों ने इसके पहले प्रथम खंड का अध्ययन कर युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण की दिव्य लीलाओं का सरस काव्य में रसास्वादन किया था। भक्तों के हृदय में सरस दिव्य लीला-लहरी प्रवाहित हुयी थी। सर्वजन श्लाघ्य इस ग्रन्थ के द्वितीय और तृतीय भाग के प्रकाशित हो जाने से भक्तवृन्द शेष लीलाओं का भी पठन, गायन एवं चिन्तन-मनन कर अपने हृदय सरोवर में श्रीरामकृष्ण की विद्यमानता की अनुभूति कर पायेंगे और अपने मानव-जीवन को धन्य कर सकेंगे, ऐसी आशा और ईश्वर से हार्दिक प्रार्थना है।

इस द्वितीय भाग में संत-प्रवर ग्रन्थकार ने भक्त-मिलन और लीला-चरित का वर्णन किया है। सबसे पहले ही उन्होंने डॉ. केदारनाथ लाभ द्वारा रचित श्रीरामकृष्ण चालीसा के द्वारा अपने ईष्ट भगवान श्री रामकृष्णदेव की वन्दना की है। अपनी अनुपम रचना में संन्यासीश्रेष्ठ भक्त-कवि रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुये कहते हैं –

प्रभु उपदेश अपार है, अति लाघव मति मोर।
बरनऊँ प्रेम अपार बल, निज हिय करन अजोर।। ५४१च

अपने मन को संबोधित करते हुये यतिवर लिखते हैं –

रे मन प्रभु का ध्यान धर, कर ले प्रभु कर संग।
जो चाहत आनन्द हिय, विष सम तजहु कुसंग।। ५४५घ

भगवत-पिपासुओं को भगवद-दर्शन का सरल मार्ग बताते हुये कहते हैं –

प्रीति सहित विनती करत, मिटहि अहं अज्ञान।
कर कृपा तब प्रगटहीं कृपासिंधु भगवान।।६२५क
जस जस प्रभु पद प्रीत बढ़े, तस तस घटे मद-मान।
तस तस घटे सब वासना, प्रगटे हिय भगवान।। ६७९
ब्रह्म सुख जिन्ह पाइया, जग सुख ताको फीक।
जस मणि मुक्ता पाइ के माँगे नहि नर भीख।। ६७८

तृतीय खण्ड में भक्त रचनाकार ने श्रीरामकृष्ण की करुण अन्त्य लीला का वर्णन किया है। ईश्वर के स्वरूप वर्णन में वे लिखते हैं –

ब्रह्म जो निरगुण निरुपम, रहित आकार विकार।
देख भगति हिय प्रगटहिं, धर धर रूप साकार।।
नेति नेति कह वेद जेहि, करही सहष बखान।
धर नर तन जग आवहीं, करन जगत कल्यान।।
९०९क

भगवान श्रीरामकृष्ण के लीलावसान के समय का चित्रण करते हुये लेखक लिखते हैं –

ब्रह्मभाव मन लीन सदा, सदा जपत हरि नाम।
चलन चहत निज धाम जनु, पूरन भयो जनु काम।।
१०७२
माँ काली रख कालीहि, गयऊ कालीधाम।
एक काली तीन रूप है, दास सुमर शुभनाम।।
१०८० क

भगवान के नाम के जप और उनकी लीला-गायन के सुफल को आलोकित करते हुये महाराज जी कहते हैं –

जपत जपत बन्धन कटे, जपत जपत कटे पाप।
जपत जपत किरपा मिले, जपत जपत हरि आप।।
८१८क
यह चरित जे गाही परमपद पाही पावहि प्रेम अनूपा।
तज तन जाही, प्रभु पद माही फिर न फिरहि भवकूपा।।

अन्त में अपने ईष्ट भगवान श्रीरामकृष्णदेव के चरणों में अपने को पूर्णतया समर्पित करते हुये यतिप्रवर प्रार्थना करते हैं –

देहु एक वर नाथ अस, रामकृष्ण भगवान।
जहाँ रहूँ, जिस देश रहूँ, करूँ सदा गुणगान।।
बिना मोल रहूँ नाथ वर, जनम जनम तव दास।
बीच-बीच मोहि निहारहु, बस इतनी सी आस।।
(१०८९ ग, घ)

इस महान अनुपम ग्रन्थ के रचनाकार के प्रति बरबस मेरी लेखनी उठ जाती है, उन्हीं की भाषा-शैली में उनका अभिनन्दन करने हेतु -

रामकृष्ण चरित यति गावा।
यथा सुमति सबके मन भावा।।
पावन चरित सबन को भाये।
त्यागी-गृही-भक्तन सुख पाये।।
रामचरित लिखे गोस्वामी।
निज मानस राखा निज स्वामी।।
रामकृष्ण लीला अनुसारी।
रामतत्त्व लिख भये सुखारी।।

(शेष अगले पृष्ठ पर)
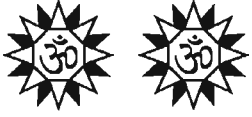
स्वामी प्रेमानन्द के संग में (२३)
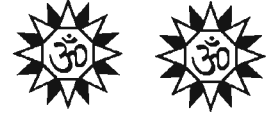
(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

बिल्ववृक्ष के नीचे स्वामी प्रेमानन्द

१. जगदम्बा के साथ युद्ध

पूजनीय बाबूराम महाराज आचार्य श्रीमत् स्वामी विवेकानन्द के समाधि-मन्दिर के सामने स्थित बिल्ववृक्ष के नीचे बैठे हैं। अपराह्न का समय है। इसी वृक्ष के नीचे बैठकर एक दिन आचार्य स्वामी विवेकानन्द ने गाया था – (भावार्थ) –

हिमालय की पत्नी मैनादेवी अपने पति से कहती हैं –

हे गिरिराज, मेरा गणेश बड़ा शुभकारी है ।
मैंने गणपति की पूजा करके पार्वती को प्राप्त किया ...
बिल्ववृक्ष के नीचे 'बोधन' की पूजा आयोजित की है,
गणेश के कल्याण हेतु गौरी का आगमन होगा ।
मैं अपने घर चण्डी को लाऊँगी, कानों से चण्डी (दुर्गा-सप्तशती) सुनूँगी; यहाँ पर कितने ही दण्डी, योगी और जटाधारी सन्त-महापुरुष आयेंगे ।।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने देहत्याग के कुछ दिनों पूर्व इसी स्थान पर घूमते घूमते पूजनीय शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) को गंगा के पूर्वी तट पर वराहनगर श्मशान घाट दिखाते हुए कहा था – "वह देखो, उस पार ठाकुर हैं और इस पार मैं हूँ। बीच में पतितपावनी गंगा हैं।"

यहाँ कितने ही अपरिचित जटाधारी योगियों को ध्यान करते और किसी किसी दिन मठ में पूजनीय बाबूराम महाराज की देखरेख में आनन्दपूर्वक आतिथ्य स्वीकार करते हुए देखा जाता था। मठ में दुर्गापूजा के समय इसी बिल्ववृक्ष के नीचे देवी का 'बोधन' स्थापित किया जाता था।

आज बुधवार, २२ मार्च १९१६ ई. का दिन है।

पुराने मठ-भवन में आकर एक साधु ने ब्रह्मचारी ब्रह्मचैतन्य से कहा – बाबूराम महाराज बेल के पेड़ के नीचे बैठे तुम्हें बुला रहे हैं। ब्रह्मचैतन्य पर रामकृष्ण मिशन का हिसाब-किताब लिखने तथा वाचनालय को देखने का उत्तरदायित्व था। उन दिनों स्वामी महिमानन्द उस कार्य से छुट्टी लेकर काशीधाम गये थे या जाने की तैयारी कर रहे थे।

ब्रह्मचैतन्य ने वहाँ जाकर देखा कि महाराज बिल्ववृक्ष के चबूतरे पर सुखासन में बैठे गा रहे हैं – (भावार्थ) –

हे माँ, तू साधन-रूपी युद्ध में मेरे सामने आ जा !
देखते हैं कि इस युद्ध में माँ हारती है या पुत्र हारता है !

पूर्वी बंगाल के कुछ युवा भक्तों में से कोई खड़ा होकर और कोई चबूतरे के किनारे बैठकर भजन सुन रहा है।

ब्रह्मचैतन्य धीरे-धीरे जाकर महाराज के एक ओर बैठे और अपने प्राणों-ही-प्राणों में उनकी अपार, असीम करुणा का अनुभव करने लगे। शिशु के प्रति स्नेहमयी जननी की जो विगलित स्नेहधारा होती है, यह वही तो है ! सिद्ध कवि सुरेन्द्रनाथ ने लिखा है –

पुत्र और माता आरम्भ में
एक-दूसरे के प्रति जो प्रेम करते हैं,
संसार में उसके समान क्या कोई दूसरा प्रेम है !
सदा एक ही मुख का ध्यान रहता है,

पिछले पृष्ठ का शेषांश

चरित दिव्य पावन सुखराशी ।
लिख्यो ताहि राम संन्यासी ।।
तिनके पद बन्दौं मैं भाई ।
प्रभु लीला लिख्यो यतिराई ।।
सारदा निज शक्ति विस्तारी ।
ज्ञान-बुद्धि-विद्या सुप्रसारी ।।
सरस छन्द अलंकृति किन्हीं ।
भाव-भक्ति लेखक को दिन्हीं ।।
श्रोता-वक्ता जो जन गावहीं ।
सो सब ईश्वर-भक्ति पावहीं ।।
रामकृष्ण के दिव्य गुण, सारदा शक्ति प्रकाश ।
जो जन गावहिं पढ़हिं नित, भक्ति मुक्ति हो दास ।।

भक्तचित्त में भक्ति-पारावार को प्रवाहित करनेवाले इस अपूर्व अनुपम ग्रन्थ के रचनाकार स्वामी रामतत्त्वानन्द जी महाराज को मैं कोटिश: प्रणाम करता हूँ। इस ग्रंथ को सफल बनाने वाले सभी लोग सम्माननीय एवं प्रशंसनीय हैं।

श्रीरामकृष्ण-चरित-मानस के अतिरिक्त भी लेखक की अन्य छोटी-छोटी पुस्ताकार काव्य रचनायें हैं – 'श्रीरामकृष्ण भजन-माला', 'माँ सारदा - जसगीत', 'ममता के छ: फूल' और 'श्रीरामकृष्ण दोहावली'। ये सभी रचनायें सरस भावपरक, गेय एवं भक्तिवर्धक हैं। इन सबका स्वाध्याय, गायन-कीर्तन-भजन करनेवालों को ईश्वर-भक्ति में वृद्धि एवं भगवान श्रीरामकृष्ण, श्री माँ सारदा के सान्निध्य का दिव्य बोध हो, यही भगवान से प्रार्थना है। जय रामकृष्ण !

सारा सुख एक ही स्थान पर केन्द्रित रहता है
और एक के ज्वर होने से दूसरा तपता है ।
विच्छेद होने पर दोनों का चित्त
विचलित और आकुल हो जाता है;
एक के नयन तथा दूसरे के स्तन झरने लगते हैं ।
मिलन होने पर क्या ही सुख का उदय होता है,
सारे दुखों का लय हो जाता है,
स्वर्ग की सुधा के पान से भी
उसकी तुलना नहीं हो सकती !
किसके साथ और कब ऐसा प्रेम होगा !''

मातृस्थानीय बाबूराम महाराज के सन्दर्भ में कवि की यह उक्ति अक्षरशः सत्य है । शिशु ब्रह्मचैतन्य ने अपने जीवन में बारम्बार इसका अपने हृदय में अनुभव किया है । उपस्थित भक्तों को माता-पुत्र के इस प्रेम की धारणा हुई या नहीं, कौन जाने । ब्रह्मचैतन्य महाराज के बुलवाने का मर्म समझ गये ।*

महाराज गा रहे हैं –

हे माँ, तू साधन-रूपी युद्ध में मेरे सामने आ जा !
देखते हैं कि इस युद्ध में माँ हारती है या पुत्र हारता है !
पुण्यरूपी रथ में भजन तथा पूजन रूपी
दो घोड़ों को जोतकर और उसमें सवार होकर,
ज्ञानरूपी धनुष की डोरी को खींचकर, उसमें
भक्तिरूपी ब्रह्मास्त्र का सन्धान करके बैठा हूँ ।।
युद्ध में तुम्हें देख लूँगा, मरने का कोई भय नहीं है,
डंके की चोट पर मैं तुमसे मुक्ति-धन छीन लूँगा ।
मेरी जिह्वा झंकृत हो रही है; और बारम्बार
काली नाम का हुँकार कर रही है,
किसकी हिम्मत है कि वह मुझसे संग्राम कर सके?
तुम दैत्यों के साथ युद्ध में बार-बार विजय पाती हो,
हे ब्रह्ममयी, अब तुम्हें मुझसे भी युद्ध करना होगा ।
भक्त रसिकचन्द्र कहता है – माँ, मैं तुम्हारे ही
बल से तुम्हें युद्ध में पराजित कर दूँगा ।।

भजन गाने के साथ-ही-साथ उनका अंग-प्रत्यंग उसी भाव में तरंगायित होने लगा । कहते हैं कि ठाकुर भी जब भाव में गाने लगते, तो उनका श्रीअंग भी उसी भाव में तरंगायित हुआ करता ।

बाबूराम महाराज – ''इसी तरह का भाव चाहिए । ब्रह्माण्ड की माँ (जगदम्बा) के साथ इसी प्रकार बलपूर्वक बातें कहना होगा – 'आ जा माँ, साधना के युद्ध में आ जा' । और ताल ठोककर लड़ना होगा – 'देखते हैं कि माँ हारती है या पुत्र हारता है' । वे हमारी सचमुच की माँ हैं, उनके पास जोर नहीं दिखायेंगे तो भला किसके पास दिखायेंगे? बालक की जिद जितना माँ सुनती है, पिता या अन्य कोई उतना सुनता है? जगन्माता से इसी प्रकार जिद करनी होगी – 'देखूँगा तुम्हें रण में, शंका क्या मरण में, डंके की चोट पर मुक्तिधन ले लूँगा' । इसी को विद्या का 'मैं' कहते हैं, इसी 'मैं' को लाना होगा; और अविद्या का 'मैं' अर्थात् मैं विद्वान हूँ, बुद्धिमान हूँ, धनवान हूँ, रूपवान हूँ – इस अविद्या के 'मैं' को दूर करना होगा । दुर्बलता का भाव – 'मैं तो मरा, मेरा क्या उपाय होगा, मैं तो अत्यन्त दीन-हीन हूँ' – आदि भाव अच्छे नहीं हैं । ठीक ठीक दीन-हीन भाव होना क्या सहज बात है ! या फिर क्या जिस-तिस को होता है ! मुख से कहता है – मैं अत्यन्त दीन हूँ और मन के भीतर अभिमान-अहंकार बजबजा रहे हैं । मन-मुख एक होना चाहिए । ठाकुर कहते थे – मन-मुख एक करना ही साधना है । वास्तविक दीनभाव मैंने एकमात्र नाग महाशय में ही देखा है । वे ही इस भाव के आदर्श हैं । उनका दीन-हीन भाव जिसने एक बार भी अपने नेत्रों से देखा है, वह कभी भूल नहीं सकता ।

''नाहं नाहं नाहं, तूँही, तूँही, तूँही – जब तक यह भाव ठीक-ठीक नहीं होता, तब तक 'आ जा माँ, साधन-रूपी युद्ध में तू मेरे सामने आ जा' ।''

२. भारत में विद्या का और यूरोप में अविद्या का 'अहम्'

''देखो न, यूरोप क्या कर रहा है ! कितनी बुद्धि लगाकर जेपलिन, वायुयान, पनडुब्बी आदि बनाकर स्वयं ही अपने को मार रहे हैं, वे लोग अविद्या का 'मैं' लेकर उन्मत्त हैं । हम लोगों को विद्या का 'मैं' लेकर उन्मत्त रहना होगा । हमें चाहिए विवेक, वैराग्य, त्याग, निष्ठा, सदाचार तथा विनय ।

''जब हम प्रत्येक वस्तु के लिए विदेशी का मुँह जोह रहे थे; पहनने के वस्त्र से लेकर सुई-आलपीन तक विदेशियों के न देने से हमारा काम नहीं चलता था; जब आचार-व्यवहार, चाल-चलन, बातचीत तक सारे विदेशी भाव हमारे भीतर प्रवेश कर रहे थे; यहाँ तक कि धर्म तक में हमने उनका अनुकरण आरम्भ कर दिया था; उसी समय हमारा स्वदेशी भाव देने के लिए हमारे ठाकुर आये । देखो न, अमुक समाज और क्या है? वह तो यूरोपियनों का अनुकरण मात्र ही है । ईसाई लोग रविवार के दिन गिर्जा में जाते हैं और ये लोग 'समाज' में; गिर्जा में सब ईसाई लोग मिलकर प्रार्थना करते हैं, इनकी भी वैसे ही नियमानुसार प्रार्थना है । वे लोग सगुण निराकार ईश्वर मानते हैं, ये लोग भी वैसा ही मानते हैं; यहाँ तक कि समाज को भी उसी विदेशी ढंग पर गढ़ना आरम्भ हुआ है । विवाह तथा भोजन में जाति का विचार नहीं है, राजपथ पर स्त्रियों का हाथ पकड़कर घूमना ! कहते हैं कि

* उत्तरकाशी, हृषीकेश, लछमन झूला आदि स्थानों पर कुछ काल तपस्या के उपरान्त १९१५ ई. में मठ लौटने के बाद से ब्रह्मचैतन्य ने महाराज के उपदेश अपनी डायरी में लिखना आरम्भ किया । बाबूराम महाराज को यह बात संयोगवश ज्ञात हो गयी थी । तभी से उपदेश के समय उनके अनुपस्थित देखते ही वे उन्हें बुला भेजते ।

कामिनी-कांचन के त्याग की क्या आवश्यकता है?

''जब पूरे देश में इसी तरह की क्रान्ति चल रही थी, जब क्षणभंगुर तथाकथित पाश्चात्य सभ्यता के चकाचौंध में आँखें चौंधिया जाने से सभी लोग अन्धकार देख रहे थे, जब लोग सच्चे पथ का ज्ञान नहीं पा रहे थे, तभी ठाकुर ने आकर सब बदल दिया। पथ का पता बता दिया। वे सभी मतों के, सभी भावों के, सभी धर्मों के जीवन्त आदर्श थे; मैं देखता कि सभी मतों, सभी धर्मों के लोग उनके पास आया करते थे और प्रत्येक को लगता कि ये हमारे ही मत के हैं।''

बाबूराम महाराज – ''सच्ची स्वाधीनता किसे कहते हैं?

राजा करे राज्य को वश में, योद्धा होता रण में विजयी।
अपने मन को वश में लावे, मानव सबसे श्रेष्ठ वही ।।

''अपने मन को वश में लाना ही तो सच्ची स्वाधीनता है। मनुष्य मन से ही बद्ध है और मन से ही मुक्त है।

''पराधीन तो वे ही लोग हैं। वे लोग भोग के पराधीन हैं, लालसा के पराधीन हैं, राग-द्वेष के पराधीन हैं, इन्द्रियों के पराधीन हैं, समाज के पराधीन हैं, जन्म-मृत्यु के पराधीन हैं। भोगासक्ति ही उन्हें उठा रही है, गिरा रही है, हँसा रही है, रुला रही है और चारों ओर दौड़धूप करा रही है। पराधीन तो वे ही लोग हैं। जमीन के एक टुकड़े के लिए, भोगसुख के लिए हिंस्र वन्य पशुओं के समान वे आपस में युद्ध कर रहे हैं, खून की धारा बहा रहे हैं, यही क्या सभ्यता या स्वाधीनता है? यही यदि सभ्यता हो, तो फिर बर्बरता किसे कहेंगे?

''हमारे समान स्वाधीनता-प्रिय राष्ट्र दूसरा कहाँ है? हमारी स्वाधीनता मन के परे है; इसकी तुलना में राजनैतिक स्वाधीनता अत्यन्त तुच्छ है। देश की स्वाधीनता की आवश्यकता जरूर है, पर वह सर्वोच्च नहीं है। आत्मा का बन्धन मोचित करना ही चरम स्वाधीनता है, उसी में परमानन्द, परम शान्ति है। आत्मा के अमरत्व में विश्वासी हिन्दू जाति की राजनैतिक पराधीनता का क्या कारण है? कारण है – कालवश धर्म के वास्तविक मर्म को न समझना; राष्ट्रीय जीवन में उसे परिणत न करना। पराधीनता के लिए हिन्दू धर्म बिल्कुल भी उत्तरदायी नहीं है, उसे व्यावहारिक जगत में, दैनन्दिन जीवन में परिणत न कर पाना ही दोष है। हमारे शास्त्र कहते हैं – तुम अमृत की सन्तान हो, तुम तुच्छ नहीं हो, हेय नहीं हो, भय ही पाप है, भय ही मृत्यु है, क्लीवता को दूर करो। और तुम लोग क्या कहते हो? – हम लोग पापी हैं, हम दुर्बल हैं। हमारे शास्त्र सुनाते हैं – अभीः अभीः अभीः। और तुम लोग बचपन से ही सीखते हो – वह 'जूजू' है, वह 'जूजू' है। शास्त्र उपदेश दे रहे हैं – त्याग और निःस्वार्थता ही धर्म के आधार हैं। छाती पर हाथ रखकर बोल, कितने लोगों ने इस आदर्श के अनुसार जीवन गढ़ा है?

''गीता के समान धर्मग्रन्थ भारत के अतिरिक्त क्या किसी अन्य देश में है? तुम्हारे कृष्ण क्या सारे दिन बाँसुरी लिए राधा का हाथ पकड़कर नृत्य ही किया करते थे? कृष्ण का चिन्तन के लिए क्या हाथ में बाँसुरी लिए ही उनकी कल्पना करनी होगी और उनका नृत्य देखना होगा?

''मृत्यु हमारे पाँव के नीचे है। जगत् में हम किसी की परवाह नहीं करते – एकमात्र भगवान की ओर ही दृष्टि लगाये रहते हैं। हम लोग स्वाधीन हैं या वे लोग? तुम लोग कहते हो कि हम पराधीन हैं! पाश्चात्य जातियाँ कह रही हैं कि वे ही सब कुछ कर रही हैं, परन्तु वे जानते नहीं कि जिस मन के द्वारा वे युद्ध आदि कर रहे हैं, उसी मन के भीतर भगवान प्रविष्ट होकर बैठे हुए हैं। वे ही सब करा रहे हैं और वे लोग सोच रहे हैं कि हम लोग ही सब कर रहे हैं।

''कोई यदि एक दृढ़ मजबूत खूँटी पकड़कर घूमे, तो वह गिरता नहीं। परन्तु खूँटी को पकड़े बिना या टूटी हुई खूँटी को पकड़कर घूमने से आदमी सिर चकराकर गिर पड़ता है। जान लेना, यह बात व्यक्तिगत रूप से जितनी सत्य है, उतनी ही समष्टि राष्ट्र के रूप में भी ठीक उतनी ही सत्य है। हमें एक मजबूत खूँटी अर्थात् भगवान को पकड़कर घूमना होगा। जो कुछ भी करो, गृहस्थी चलाओ या संन्यासी बनो, भगवान का आश्रय लेकर करने से गिरोगे नहीं। हमारा देश यही मजबूत खूँटी पकड़कर घूमता आया है। इसीलिए यह आज अभी तक जीवित है। और पाश्चात्य लोग क्या पकड़कर घूम रहे हैं? इनका स्थायी अवलम्बन कुछ भी नहीं है। ऐसी अस्थायी भोगलालसा, इन्द्रियासक्ति, जो आज है कल नहीं, इन्हीं सबका अवलम्बन करके पाश्चात्य जातियाँ घूम रही हैं। इसका फल भी वही – ध्वंस ही होगा।

''पाश्चात्य जातियाँ तोप, बारूद, गोला आदि के द्वारा युद्ध कर रही हैं। और हम लोगों को भाव, महाभाव, प्रेम, समाधि – इन्हीं सब को लेकर लड़ाई करनी होगी। ये सब चीजें क्या अन्य देशों में हैं? या, क्या वे इसे जानते हैं?''

इतना कहकर महाराज गाने लगे – (भावार्थ) –

माँ-श्यामा के चरणों में कब समाधि होगी !
जब संसार की कामनाओं के साथ
'अहं' तत्त्व भी दूर हो जायगा।'' आदि

❖ (क्रमशः) ❖

सुख-विवेचन

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

हर प्राणी सुख चाहता है। उसकी हर क्रिया सुख पाने के लिए ही हुआ करती है। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद को उपदेश देते हुए सनत्कुमार कहते हैं, "**यदा वै सुखं लभते अथ करोति। न असुखं लब्ध्वा करोति। सुखमेव लब्ध्वा करोति**।" अर्थात् "जब सुख मिलता है, तभी व्यक्ति क्रिया करता है। सुख न मिले तो नहीं करता, सुख मिले तभी करता है।" यह जीवन का शाश्वत सिद्धान्त है। हम सुख-प्राप्ति के लिए लौकिक क्रियाओं में लगते हैं। हम अध्ययन में इसलिए प्रवृत्त होते हैं कि पढ़-लिखकर धन कमा सकेंगे और उससे अभाव की पूर्ति द्वारा सुख सम्पादित कर सकेंगे।

वस्तुत: अभाव की पूर्ति से सुख की संवेदना होती है। हममें विद्या का अभाव है। उसके दूर होने से सुख मिलता है। इसी प्रकार रोग लग जाए तो दु:ख होता है और छूटे तो सुख का अनुभव होता है। इस तरह रोग का शमन भी हममें सुख की संवेदना पैदा करता है। पर भर्तृहरि ऐसे सुखानुभव को भ्रान्ति की कोटि में डालते हैं, कहते हैं –

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि।
क्षुधार्तः सन् शालीन कवलयति शाकादि बलितान्॥
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिंगति वधू।
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥

– अर्थात् जब मनुष्य को प्यास-रोग सताता है, तब मीठे और सुगन्धित जल के पान से वह इस रोग को दूर कर लेता है। आनन्द तो उसे रोग के दूर होने के कारण आया, पर वह मानता है कि मीठा सुगन्धित जल पीने से मुझे बड़ा आनन्द आया। यदि बात ऐसी ही हो तो पेट भरा हो, तब भी वैसा जल पीने से आनन्द आना चाहिए, पर वह नहीं आता। इसी प्रकार क्षुधा भी एक रोग है। उसकी निवृत्ति शाकादि पदार्थों से मिश्रित चावल आदि का उपयोग करने से होती है। लोग कहते हैं, कि भोजन में बड़ा आनन्द आया, पर वस्तुत: आनन्द तो भूखरूपी रोग के निवारण से प्राप्त हुआ। यदि किसी विशेष भोजन में आनन्द होता, तो पेट भरा रहने पर भी उसके भक्षण से आनन्द मिलना चाहिए, जो नहीं मिलता। इसी प्रकार काम का प्रदीप्त होना भी एक रोग है और उसका शमन पत्नी-सम्बन्ध के द्वारा होता है। असल में व्याधि के प्रतिकार के कारण हमें सुख मिलता है, पर मनुष्य भ्रान्ति से क्रियाओं में सुख मान लेता है। यदि सुख क्रियाओं से मिलता होता, तो सभी अवस्थाओं में उन क्रियाओं से सुख उत्पन्न होता, पर ऐसा नहीं हुआ करता।

तात्पर्य यह है कि सुख रोग के दूर होने से होता है। फ्लू या टायफाइड के प्रकोप में पड़कर जब चंगा होता हूँ, तो मुझे सुख होता है। तो क्या इसीलिए मैं यह प्रयत्न करूँ कि मुझे फिर से फ्लू या टायफाइड हो जाय और मैं उससे मुक्त होने की चेष्टा करूँ, जिससे मुझे सुख हो? नहीं, मैं ऐसा नहीं करता। मैं यही चाहता हूँ कि मैं सदा स्वस्थ बना रहूँ। यह जो रोग होना और उससे मुक्त होने से सुख का अनुभव करना है, इस सुख का अन्तर्भाव सदैव नीरोग रहने से सुख में हो जाता है। कोई यह नहीं चाहता कि मुझे बारम्बार रोग होते रहें और उन रोगों को दूर कर मैं सुख का अनुभव करता रहूँ। इसी प्रकार कामना के सम्बन्ध में समझना चाहिए। हमारे मन में कामना पैदा होती है और उसकी तृप्ति कर हम सुख का अनुभव करते हैं। पर प्रश्न यह है कि क्या यह सुख हमें सन्तोष प्रदान करता है? इसका उत्तर हमें 'नहीं' में मिलेगा, क्योंकि हर कामना की पूर्ति हमारी लालसा को और भी बढ़ा देती है। यह लालसा तृष्णा को जन्म देती है। 'तृष्णा' को 'महाभारत' में 'प्राणान्तक रोग' कहा गया है। राजा ययाति अपने जीवन की अनुभूतियों के बल पर कह उठते हैं –

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगः तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥

– अर्थात् "दुर्मतियों के लिए जो दुस्त्यज है और शरीर के जीर्ण होने पर भी जो जीर्ण नहीं होती, ऐसी जो प्राणान्तक रोग तृष्णा है उसे छोड़ने पर ही यथार्थ सुख मिलता है।" तृष्णा-रोग का शमन ही निष्कामता कहलाती है। मनुष्य को सच्चा और स्थायी सुख निष्कामता से प्राप्त होता है, कामनाओं की पूर्ति के पीछे भागने से नहीं। ❑❑❑

माँ की बातें

पंचानन दास

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

उस समय मैं बहुत छोटा था, बिल्कुल छोटा नहीं –१२-१४ वर्ष का बालक था। माता-पिता के साथ माँ के घर जयरामबाटी जाता। (स्वामी गम्भीरानन्द लिखित) माँ की जीवनी में मेरे पिता लालमोहन दास का 'लालू' के रूप में उल्लेख आया है। पिताजी मछुआरे के लड़के थे। मछली पकड़ना और खेती करना ही हमारा पुश्तैनी काम था। मेरे पिता में और भी एक बड़ा गुण था कि वे बाउल गीत जानते थे। सम्भवत: माँ के आशीर्वाद से ही वे उसमें इतने कुशल हो गये थे। पिताजी लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे, पर बाउल गीत बड़ा अच्छा गाते थे। गाने बनाते भी थे। पिताजी पर माँ की असीम कृपा थी। हम लोग भी बड़े भाग्यवान हैं, जो माँ को देख सके। भगवान श्रीरामकृष्ण के एक-दो शिष्यों को भी देखा है। शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) जब यहाँ आये, तब उन्हें भी देखा था। मास्टर महाशय को भी देखा है।

जयरामबाटी में माँ के घर जगद्धात्री-पूजा के समय हमें बड़ा आनन्द मिलता था। हमारे घर के सभी लोगों को निमंत्रण रहता। पिताजी, माँ, मैं – हम सभी लोग पूजा के दिनों में माँ के घर पर ही खाना-पीना करते। मेरे पिताजी – महाराज लोगों के आदेशानुसार सामान लाना, बाँस गाड़ना, पण्डाल लगाना, घर की मरम्मत आदि सारे काम करते थे। पूजा के समय बहुत बर्तन एकत्र हो जाते, बहुत-से भक्त भी आते और वे लोग प्रसाद लेते। मेरी माँ और अन्य सभी महिलायें बर्तन माँजने के काम में लगी रहतीं। घर-द्वार लीपना, आँगन बुहारना – मेरी माँ इन सब काम में व्यस्त रहती। मैं घूमता रहता। कभी छोटे-मोटे काम करता। माँ के घर खाना दे आना, भूसा ला देना, लकड़ी ढोकर लाना – ऐसे छोटे-मोटे काम मेरे जिम्मे थे। उस समय माँ महाराज-लोगों से कहतीं, "बेटा, तुम लोगों ने लालू के इस छोटे लड़के को भी काम में लगा लिया!" तत्पश्चात् कहतीं, "अच्छा है, ठाकुर के काम में लगा रह! ठाकुर ही तेरे को स्वस्थ और दीर्घजीवी करेंगे।" अत्यन्त सामान्य घटना होते हुए भी माँ का यह आशीर्वाद मेरे जीवन में अक्षरश: फलित हुआ है। ९६ वर्ष की उम्र में (जुलाई २००० में) भी अभी मैं शय्याशायी नहीं हुआ हूँ।

हमारी माँ साक्षात् जगद्धात्री हैं, यह उस समय न समझते हुए भी, आज ठीक-ठीक समझ पाता हूँ। हम लोगों के तो मानवीय नेत्र हैं, ये भला देवता को कैसे पहचानेंगे? उस समय माँ को देखकर सोचता, पिताजी उन्हें 'बुआ' क्यों कहते हैं? एक बार पिताजी से पूछा था, "बाबा, हम लोग तो नीची जाति के हैं, मछुआरे हैं और माँ ब्राह्मण हैं। वे तुम्हारी बुआ कैसे हुई?" पिताजी बोले, "अरे, वे केवल मेरी बुआ नहीं हैं, सारे जगत् की बुआ हैं, जगत् की दीदी हैं, जगत् की माँ हैं। ये साक्षात् देवी हैं। उनके मन में क्या जात-पात का विचार है! तुमने देखा है न, ब्राह्मण-घर की कोई विधवा क्या इन डोम-बागदियों को अपने घर में घुसने देती है? बुआ के घर में तो हम हमेशा ही जाते हैं। दूध दूहकर दे आते हैं। हाट से आनाज आदि ला देते हैं। बुआ के मुँह से क्या कभी 'दुर-दुर' का भाव देखा है? मानव-शरीर में वह सब रहता है, देव-शरीर में वह सब नहीं रहता।"

पिताजी ने माँ को कई बार विशेष रूप में देखा है। उस समय मैं छोटा बच्चा था। माँ के साथ भला क्या बात करता; सच कहूँ तो उस समय खाने के लोभ में पिताजी के साथ जाया करता था। मेरे जाते ही माँ मेरे हाथों में नारियल या मुरमुरे के लडडू या चने-गुड़ की पट्टी – आदि कुछ-न-कुछ देती ही थीं। उसी के लोभ में जाता और माँ के घर की बिल्लियों के प्रति भी बड़ा आकर्षण था। उनके साथ खेला करता। हल्दी के शान्तिराम भी मेरी ही आयु के थे, वे भी माँ के घर आते। उनके पिता माँ की पालकी ढोया करते थे। इस कारण वे भी माँ के घर जाते।

माँ का दर्शन करने का मुझे अनेकों बार सौभाग्य मिला था। यही मेरे जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। माँ के विषय में पिताजी कभी-कभी कुछ बताते, परन्तु उस आयु में हम लोगों के लिये उसका कोई महत्त्व नहीं था। तो भी दो घटनाओं की बात बारम्बार याद आती है।

पहली घटना है – माँ का प्रसाद पाने की। एक दिन माँ के घर गया था। उस दिन कोई उत्सव आदि नहीं था, परन्तु बहुत-से लोग उपस्थित थे। गर्मी का मौसम था। तभी मैंने

देखा कि एक भक्त माँ के घर में आये। उनके हाथों में लीची की डालियाँ थीं। हमारी तरफ लीची की पैदावार नहीं होती। लीचियाँ खाने की मुझे बड़ी इच्छा हुई। पर संकोच के कारण बिना किसी को कहे मैंने मन-ही-मन माँ से प्रार्थना की, "माँ, यदि तुम मन की बातें जान पाती हो, तो मुझे प्रसाद में लीचियाँ देना।" इसके बाद मैं वह बात भूल गया। पूजा समाप्त हुई। प्रसाद वितरित हुआ और उसे खाना भी हो गया। उस समय मेरा कोई काम नहीं था, इसलिये मुझे याद है कि मैंने भी अन्य लोगों के साथ प्रसाद ग्रहण किया था। इसके बाद जब मैं अपने माता-पिता के साथ घर लौटने वाला था, तो पिताजी अपनी 'बूआ' से मिलने गये। बूआ कमरे के भीतर से ही बोलीं, "लालू, अपने लड़के को एक बार बुला तो ! उसके लिये मैंने थोड़ा-सा प्रसाद रखा है।" माँ ने मेरे हाथ में प्रसादी फल दिये – पाँच लीचियाँ। हाथ में प्रसाद पाते ही मुझे सुबह की बात याद आ गयी और मैं आश्चर्यचकित रह गया। माँ ने मेरे मन की बात सुन ली थी। घर लौटकर यह बात मैंने अपने माता-पिता को बतायी थी।

एक अन्य बात याद आ रही है। अपनी माता के मुख से सुना था। एक बार मुझे टायफायड हुआ। पिताजी बहुत दिनों से घर पर नहीं थे, दूर के गाँव में बाउल गीत गाने गये थे। खूब तेज बुखार में करीब एक माह पड़ा रहा। सबने मेरे बचने की आशा छोड़ दी थी। उन दिनों वैसा कोई अच्छा डॉक्टर भी नहीं था, वैद्यकी चिकित्सा हुआ करती थी। एक दिन मैंने बुखार की खुमारी में देखा – मेरी माँ के जैसी ही कोई महिला कमरे में आकर मुझसे कह रही है, "पंचू, मुँह खोल तो।" मैंने मुँह खोला। वे मुझे पता नहीं क्या खिला कर चली गयीं। उसके बाद ही शरीर मानो जल उठा। मैं 'माँ-माँ' कहकर चिल्ला उठा। मेरी माता दौड़ी हुई आयी और पूछा, "क्या हुआ?" मैं बोला, "तुमने क्या खिलाया? शरीर जला जा रहा है।" माँ ने कहा, "कहाँ, मैंने तो कुछ भी नहीं खिलाया।" मैं बोला, "अभी-अभी तो खिलाकर गयी हो।" माँ ने सोचा कि बुखार की खुमारी में उट-पटांग बक रहा हूँ। वैसे थोड़ी देर बाद शरीर का दाह कम हो गया। इसके बाद तन्द्रावस्था में मैंने पुनः देखा कि माँ-जैसी वही महिला कमरे में आयीं और मुझसे पूछा, "बेटा, बड़ा कष्ट हुआ? पर बेटा, उसे बिना खिलाये तुम स्वस्थ नहीं होते।" देखा वे महिला मेरी माता नहीं, पिताजी की 'बूआ' – हमारी माँ हैं। मैं विह्वल होकर पुनः पुकारने लगा, "माँ, माँ, माँ"!

नींद टूट गयी। मेरी गर्भधारिणी माँ दौड़ी आयीं। नाराज होकर कहने लगीं, "क्यों इतना अण्ट-शण्ट बक रहा है?" पिताजी तब तक घर लौट आये थे। वे भी दौड़े आये। मैं बिस्तर पर उठकर बैठते हुए बोला, "पिताजी, आपकी बुआ ने मुझे न जाने क्या खिला दिया, उससे शुरू में तो शरीर जल उठा। पर बाद में देखता हूँ कि मेरा सिर बिल्कुल हल्का हो गया है।" पिताजी ने कहा, "कहता क्या है रे ! जा, अब कोई भय नहीं, अब तू स्वस्थ हो जायेगा।" उस समय माँ जयरामबाटी में ही थीं।

सचमुच इसके बाद ही बुखार उतर गया। वही एक रोग हुआ था, इसके बाद कोई अन्य भयंकर रोग नहीं हुआ। माँ ने महाप्रसाद खिला दिया था न ! माँ परम दयामयी हैं। उनकी कृपा की बात क्या कहूँ? माँ ने कलकत्ते में देहत्याग किया। जब यह खबर जयरामबाटी पहुँची, तो हर मुहल्ले में कितना रोना-पीटना मच गया ! सातबेड़े, हल्दी, जीबटे, सिहड़, कोआलपाड़ा – सभी स्थानों में छोटी-बड़ी सभी जातियों के लोग माँ के लिये रो पड़े थे। पिताजी तीन दिन बिना खाये माँ के घर में पड़े रहे। माँ मुझे कब पुकार कर उस पार ले जायेंगी – अब इसी की बाट जोह रहा हूँ।

❖ (क्रमशः) ❖

किनसे सावधान रहना चाहिये

क्रोध तमोगुण का लक्षण है। क्रोध होने पर विवेक-बुद्धि नष्ट हो जाती है। हनुमान ने क्रुद्ध होकर लंका जला दी – यह ज्ञान नहीं रहा कि इससे सीताजी की कुटिया भी जल जाएगी।

कुछ लोगों से सावधान रहना पड़ता है। पहला, बड़े आदमी। वे चाहें तो तुम्हें नुकसान पहुँचा सकते हैं, क्योंकि उनके हाथ में बहुत धन-जन और सामर्थ्य है। इसलिए कभी-कभी वे जो कुछ कहें, उसी में हामी भरते जाना पड़ता है। दूसरा, साँड़। सींग मारने आए तो मुँह से आवाज करते हुए उसे ठण्डा करना पड़ता है। तीसरा, कुत्ता। जब भौंकता हुआ काटने दौड़ता है, तो उसे भी ठहरकर मुँह से आवाज करते हुए शान्त करना पड़ता है। चौथा, शराबी। उसे अगर छेड़ दो तो 'तेरी ऐसी की तैसी' वगैरह कहते हुए तुम्हारी चौदह पीढ़ियों को गालियाँ देगा। पर उससे अगर प्रेम से कहो, 'क्यों चाचा, कैसे हो?' तो एकदम खुश होकर तुम्हारे पास बैठकर खूब बातचीत करने लगेगा, तम्बाकू पीयेगा। – *श्रीरामकृष्ण*

स्वामी विवेकानन्द की बोधगया-यात्रा (५)

स्वामी विदेहात्मानन्द

हिन्दू और बौद्ध का मिलन – एक स्वप्न

स्वामीजी की बुद्धभक्ति के बारे में भगिनी निवेदिता लिखती हैं, ''अपने भारत-भ्रमण के समय स्वामीजी को कहीं पर बुद्ध के अस्थि-अवशेषों को स्पर्श करने की अनुमति मिली थी, सम्भवत: उसी स्थान के निकट जहाँ उनकी खोज हुई थी। उस समय वे जिस प्रबल श्रद्धा तथा असन्दिग्धता के भाव से से अभिभूत हुए थे, परवर्ती काल में वे जब कभी इस घटना का उल्लेख करते, तो वह कुछ अंशों में अवश्य ही व्यक्त हो उठता था।... एक बार किसी के द्वारा उनके धर्ममत के विषय में भ्रमित होकर उन्हें 'बौद्ध' कहने पर वे बोल उठे, 'मैं तो बुद्धदेव के दासों के दासों का भी दास हूँ!' बुद्ध के प्रति उनकी भक्ति इतनी प्रगाढ़ थी कि बौद्धमत में विश्वासी होना भी मानो उन्हें एक उच्च अवस्था में उन्नीत होना प्रतीत होता था – और मानो वे उसका भी दावा नहीं कर सकते थे।''[६२]

अमेरिका यात्रा के पूर्व मद्रास में उन्होंने कहा था, ''मेरा धर्म वह है, ईसाई धर्म जिसकी एक शाखा है और बौद्ध धर्म जिसका एक विद्रोही शिशु।''[६३] अपनी अमेरिका-यूरोप की प्रचार-यात्रा के दौरान स्वामीजी ने बारम्बार घोषणा की थी कि वे किसी का धर्मान्तरण करना नहीं चाहते हैं, वे तो बस – हिन्दू को एक बेहतर हिन्दू, ईसाई को एक बेहतर ईसाई, मुसलमान को एक बेहतर मुसलमान और बौद्ध को एक बेहतर बौद्ध बनाना चाहते हैं। वे नवीन युग के आदर्श के रूप में भगवान बुद्ध की असीम-अगाध करुणा के साथ उपनिषदों के अभूतपूर्व व्याख्याता आदि शंकराचार्य की मेधा का सम्मिलन कराना चाहते थे।

शिकागो धर्म-महासभा में २६ सितम्बर १८९३ को अनागरिक धर्मपाल का बौद्ध धर्म पर व्याख्यान हुआ। सम्भवत: उसके लेखन में स्वामीजी ने भी सहायता की थी।[६४] धर्मपाल ने स्वयं लिखा है, ''व्याख्यान के बाद मैंने भाई विवेकानन्द को बौद्ध धर्म की आलोचना करने को कहा। मेरे सज्जन भाई ने कहा कि हिन्दू जाति के बौद्ध लोगों के साथ सम्मिलन पर ही भारत की भावी महानता निर्भर है।''[६५] धर्मपाल के भाषण पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने का अनुरोध किये जाने पर स्वामीजी ने कहा था – ''मैं बौद्ध धर्मावलम्बी नहीं हूँ, ... फिर भी मैं बौद्ध हूँ। यदि चीन, जापान या लंका उन महान् तथागत के उपदेशों का अनुसरण करते हैं, तो भारतवर्ष भी उन्हें पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार मानकर उनकी पूजा करता है। ... शाक्यमुनि (बुद्ध) हिन्दू थे।... हिन्दुओं ने शाक्यमुनि को ईश्वर के रूप में ग्रहण किया है और वे उनकी पूजा करते हैं। ... वे कोई नयी शिक्षा देने के लिए अवतीर्ण नहीं हुए थे। ... वे स्वयं संन्यासी थे, और यह उनकी ही गरिमा है कि उनका हृदय इतना विशाल था कि उन्होंने 'वेदों' के छिपे हुए सत्यों को निकालकर उनको सारे संसार में विकीर्ण कर दिया। ... सर्वभूतों – विशेषकर अज्ञानी तथा दीनजनों के प्रति तथागत की अद्‌भुत सहानुभूति में ही उनका महान् गौरव सन्निहित है। ... हिन्दू धर्म बौद्ध धर्म के बिना नहीं रह सकता और न बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के बिना ही। तब यह देखिए कि हमारे पारस्परिक पार्थक्य ने यह स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है कि बौद्ध – ब्राह्मणों (हिन्दुओं) के दर्शन और मस्तिष्क के बिना नहीं ठहर सकते, और न ब्राह्मण (हिन्दू) बौद्धों के विशाल हृदय के बिना। बौद्ध और ब्राह्मण के बीच यह पार्थक्य भारतवर्ष के पतन का कारण है। यही कारण है कि आज भारत में तीस करोड़ भिखमंगे निवास करते हैं, और वह एक हजार वर्षों से विजेताओं का दास बना हुआ है। अत: आइए, हम ब्राह्मणों की इस अपूर्व मेधा के साथ तथागत के हृदय, महानुभावता और अद्‌भुत लोकहितकारी शक्ति को मिला दें।''[६६]

१८९० के एक पत्र में वे लिखते हैं, ''जो धर्म उपनिषदों में केवल एक जाति-विशेष के लिए आबद्ध था, उसका द्वार गौतम बुद्ध ने सबके लिए खोल दिया और सरल लोकभाषा में उसे सबके लिए सुलभ कर दिया। उनका श्रेष्ठत्व उनके निर्वाण के सिद्धान्त में नहीं, अपितु उनकी अतुलनीय सहानुभूति में है।''... २० अगस्त १८९३ को उन्होंने पुन: लिखा था, ''समाज की यह दशा दूर करनी होगी – परन्तु धर्म का नाश करके नहीं, वरन् हिन्दू धर्म के महान् उपदेशों का अनुसरण कर और उसके साथ हिन्दू धर्म स्वाभाविक विकास-रूप बौद्ध धर्म की अपूर्व सहृदयता को युक्त करके।''

स्वामीजी की इच्छा थी कि उपनिषदों में प्रतिपादित हिन्दू

---

६२. द मास्टर ऐज आइ सा हिम (अंग्रेजी), १९७२, पृ. २५४

६३. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, प्र. सं. १९६३, पृ. २८८

६४. ''स्वामीजी स्वयं हिन्दू धर्म के प्रवक्ता थे, पर यदि वे देखते कि कोई भिन्न धर्मावलम्बी भारतीय श्रोताओं के सम्मुख अपने धर्म को प्रस्तुत करने में कठिनाई महसूस कर रहा है, तो वे बैठ जाते और उसके लिए व्याख्यान लिख देते। जितना अच्छा वह स्वयं अपने धर्म पर न लिख पाता, उससे कहीं अधिक अच्छा स्वामीजी अपने मित्र के लिए उसके धर्म पर लिख देते!'' – भगिनी निवेदिता (द्रष्टव्य – स्वामी विवेकानन्द और उनका अवदान, कलकत्ता, पृ. ९२)

६५. समकालीन भारतवर्ष (बँगला), खण्ड ४, प्रथम सं., पृ. २५३

६६. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, प्र. सं. १९६३, पृ. २३-२५

धर्म के साथ विशुद्ध बौद्ध धर्म का सम्मिलन कराने से सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया को एकता के सूत्र में निबद्ध किया जा सकेगा। पर धर्मपाल का स्वप्न इससे बिल्कुल भिन्न था। वे भारत के हिन्दुओं में श्रीलंका में प्रचलित संकीर्ण तथा कट्टर बौद्धमत का प्रचार करना चाहते थे। अत: वे क्रमश: स्वामीजी से दूर चले गये और हिन्दू धर्म के घोर विरोधी बन गये।

जापानी बौद्ध ओकाकुरा का आगमन

स्वामीजी के जीवन के सांध्य काल में एक अन्य बौद्ध धर्मावलम्बी के साथ उनकी घनिष्ठता का सूत्रपात हुआ, जिनका नाम था काकाजू ओकाकुरा। १९०१ ई. के जून माह में स्वामीजी को अपनी एक अमेरिकी मित्र जोसेफीन मैक्लाउड का जापान से लिखा हुआ एक पत्र मिला, जिसमें उन्होंने श्री ओकाकुरा के साथ अपनी भेंट का विवरण दिया था। श्री ओकाकुरा ने स्वामीजी को जापान में आकर धर्मप्रचार करने का निमंत्रण और साथ में राहखर्च के लिये ३०० डॉलर का एक चेक भी भेजा था। करीब छह माह बाद मिस मैक्लाउड ओकाकुरा के साथ भारत आ पहुँची।

ओकाकुरा जापान में टेनशिन नाम से परिचित थे और ललित कला से सम्बन्धित विभिन्न गतिविधियों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े थे। वे जापान के प्राचीन मन्दिरों के जीर्णोद्धार हेतु बनी कमेटी के अध्यक्ष थे और टोकियो कला विद्यालय, जापानी ललितकला अकादमी तथा जापानी चित्रकला की एक पत्रिका के संस्थापकों में वे एक थे। वे १९०२ ई. के जनवरी के प्रथम सप्ताह में कलकत्ता पहुँचे थे। ६ जनवरी की शाम को वे स्वामीजी से मिलने पहली बार बेलूड़ मठ आये। १२ जनवरी को स्वामीजी के मित्रों ने ओकाकुरा तथा उनके संगियों का कलकत्ते में अभिनन्दन किया और उन्हें एक प्रीतिभोज दिया। २३ जनवरी को स्वामीजी ने भगिनी क्रिस्टिन के नाम अपने पत्र में लिखा, "मिस मैक्लाउड अपने जापानी मित्रों – कला के प्राध्यापक श्री ओकाकुरा और ब्रह्मचारी होरी के साथ आ पहुँची हैं। होरी यहाँ संस्कृत तथा अंग्रेजी का अध्ययन करने आया है और ओकाकुरा जापानी संस्कृति तथा कला की जन्मभूमि भारतवर्ष का परिदर्शन करने आये हैं। कुछ ही दिनों में श्रीमती बुल तथा निवेदिता भी आनेवाली हैं।" साथ ही उन्होंने बताया है कि वे चीन और जापान जाने की योजना बना रहे हैं।[६७]

"ओकाकुरा ने मठ का आतिथ्य स्वीकार कर कुछ दिन वहीं निवास किया और उनके साथ आए युवा ब्रह्मचारी 'होरी' भी वहीं रहे। इन दोनों के प्रति स्वामीजी का बड़ा प्रेम था। ओकाकुरा को वे खुड़ो (चाचा)[६८] कहते और होरी उनके लिए हरि था।... नवजाग्रत जापान के दो विशिष्ट धर्मावलम्बियों को अपने निकट पाकर, अब वे (स्वामीजी) बौद्ध धर्म तथा जापान के बारे में विविध प्रकार की चर्चाओं में डूब गए। भगवान बुद्ध का जीवन तथा सन्देश, उनके दार्शनिक तत्त्व तथा उनका जगद्धिताय आत्मोत्सर्ग आदि विषयों पर स्वामीजी ऐसी श्रद्धा-भक्ति तथा सूक्ष्म दृष्टि के साथ अपना मत व्यक्त करने लगे कि आगन्तुक सज्जनगण अत्यन्त मुग्ध हो गए।"[६९]

बेलूड़ मठ में बौद्धधर्म विषयक इन चर्चाओं के विषय में स्वामीजी के विख्यात जीवनीकार श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार लिखते हैं, "स्वामीजी इनके साथ प्रतिदिन भगवान बुद्ध तथा बौद्ध धर्म के विषय में चर्चा किया करते थे। पाश्चात्य विद्वानों ने बौद्ध दर्शन को हिन्दू दर्शन के नितान्त विपरीत बताकर जो मत व्यक्त किये हैं, स्वामीजी उनका खण्डन कर दिखा देते थे कि बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म की विद्रोही सन्तान है, तथापि बुद्धदेव के अधिकांश उपदेशों के साथ उपनिषदों का काफी मेल है। अत: बौद्ध दर्शन की नींव उपनिषद् के ज्ञानकाण्ड पर ही टिकी हुई है। जापानी विद्वान् स्वामीजी के बौद्ध धर्म विषयक विचारों को सुनकर विस्मित हुए। उन्होंने देखा कि इस बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न संन्यासी ने बौद्ध धर्म के अधिकांश ग्रन्थों का यत्नपूर्वक अध्ययन किया है। वे समय-समय पर यह नहीं समझ पाते थे कि स्वामीजी को बौद्ध श्रमण कहें या हिन्दू संन्यासी!"[७०]

स्वास्थ्य खराब होने के कारण स्वामीजी को जापान जाने की अपनी योजना त्याग देनी पड़ी, तथापि ओकाकुरा की इच्छा थी कि स्वामीजी उनके साथ बोधगया तथा वाराणसी जायें और भारतीय कला के अध्ययन में उनकी सहायता करें। तदनुसार स्वामीजी ने निश्चय किया कि पहले वे उनके साथ बोधगया जाएँगे और फिर काशी जाकर वहीं कुछ काल निवास करेंगे। इसी दौरान ओकाकुरा स्वामी निरंजनानन्द के साथ भारत के विभिन्न अंचलों में जाकर बौद्ध युग के प्राचीन स्थानों को देखकर आ सकेंगे। (युगनायक, पृ. ३५१)

स्वामीजी की दोनों बोधगया यात्राओं का एक साथ उल्लेख करती हुई भगिनी निवेदिता लिखती हैं, "संन्यास की दीक्षा प्राप्त होने ही उन्होंने पहला काम यह किया कि वे तत्काल बोधगया जा पहुँचे और उस महान् वृक्ष के नीचे ध्यान में बैठ गये। ... इसी प्रकार, अपने जीवन के अन्तिम पर्व में, अपने ३९वीं जन्मतिथि (२९ जनवरी) की सुबह वे एक बार फिर

६७. समकालीन भारतवर्ष, खण्ड ५, प्र. सं. १९८१, पृ. ४६२-३; कम्प्लीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड ९, १९९८, पृ.१७६

६८. श्रीकृष्ण-लीला में जैसे अक्रूर उन्हें मथुरा ले जाने के लिये आये थे, वैसे ही ओकाकुरा स्वामीजी को जापान ले जाने के लिए आए थे, अत: मठ के संन्यासी उन्हें 'अक्रूर खुड़ो' (अक्रूर चाचा) कहते थे।

६९. युगनायक विवेकानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर, खण्ड ३, सं. २००५, पृ. ३५०-५१

७०. विवेकानन्द चरित, सं. १९७१, पृ. ५२४

बोधगया पहुँचे और उसके बाद बनारस-दर्शन के साथ समाप्त होनेवाली यह यात्रा ही उनके जीवन की अन्तिम यात्रा थी।''[७१]

स्वामीजी की दूसरी बोधगया यात्रा

ओकाकुरा ने करीब तीन हफ्ते मठ में निवास किया और उसके बाद स्वामीजी की टोली के साथ २७ जनवरी को बाँकीपुर (पटना) होते हुए बोधगया के लिए प्रस्थान किया। स्वामीजी के साथ निम्नलिखित लोग थे – ओकाकुरा, कुमारी मैक्लाउड, सेवक के रूप में स्वामी निर्भयानन्द और सेवक सहकारी रूप में नरेश तथा नेड़ा नामक दो युवक। २८ जनवरी को गया पहुँचकर वहाँ एक दिन निवास करने के बाद वे लोग घोड़ागाड़ी में बोधगया की ओर चल पड़े।

स्वामी गम्भीरानन्दजी लिखते हैं, ''अपनी टोली के साथ स्वामीजी के वहाँ पहुँचने पर महन्त महाराज ने उन्हें अपना एक बड़ा भवन दिया और उनकी सर्व प्रकार से सेवा की व्यवस्था कर दी। विश्वविश्रुत विवेकानन्द स्वयं ही आकर उनके मठ में आतिथ्य ग्रहण करेंगे, यह बात उनके कल्पना में भी नहीं आयी थी। स्वामीजी ने इस अवसर पर बोधगया तथा उसके आसपास के स्थानों का दर्शन किया और भगवान बुद्ध के साधनापीठ बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर समाधि में डूब गए। पन्द्रह-सोलह वर्ष पूर्व इसी प्रकार एक बार काशीपुर से आकर वे उसी स्थान पर ध्यान में बैठे थे। कहाँ वे दिन और कहाँ आज का दिन! निर्विकल्प समाधि के लिए उत्सुक भावुक-हृदय युवा नरेन्द्रनाथ आज लब्धप्रतिष्ठ महाकृती विश्व-विख्यात मानवप्रेमी विवेकानन्द हो चुके थे। उस समय विराट् कार्य की तैयारी चल रही थी और अब महाकर्मचक्र-प्रवर्तन के उपरान्त अन्तिम लीला का समापन आसन्न था।''[७२]

नरेशचन्द्र घोष (गौर) के संस्मरण

टोली के एक सदस्य नरेशचन्द्र घोष (गौर) ने इस यात्रा का विवरण देते हुए कहा था, ''स्वामीजी की टोली के साथ मैं भी बोधगया के लिये रवाना हुआ। उस समय मुझे जिस असीम आनन्द का अनुभव हो रहा था, उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। जापान से ओकाकुरा आये हुए थे; स्वामीजी उन्हें बोधगया दिखाने ले जा रहे थे। साथ में मिस मैक्लाउड भी थीं। कानाई महाराज (निर्भयानन्द) स्वामीजी के प्रधान सेवक थे। उनके सहायक थे नादू और मैं। उन दिनों हावड़ा से गया जाने के लिये बाँकीपुर में गाड़ी बदलनी पड़ती थी। भोर में बाँकीपुर स्टेशन आया। तत्काल गया जाने की गाड़ी मिली। दो-तीन घण्टे बाद हम लोग गया पहुँचे। ओकाकुरा के पास तत्कालीन लाट साहब लार्ड कर्जन का एक परिचय-पत्र था। उन्होंने पहले से ही तार (टेलीग्राम) कर दिया था। उस पत्र के कारण सरकार की ओर से इस टोली के स्वागत-सत्कार की व्यवस्था की गयी थी। उन लोगों ने उत्साहपूर्वक इस टोली का यथोचित अभिवादन किया। सभी लोग जाकर डाकबँगले में ठहरे। चाक-चौबन्द पहरे की व्यवस्था थी। सब लोग दो दिन डाकबँगले में रहे। मैक्लाउड तथा ओकाकुरा के लिये बावर्ची का प्रबन्ध था और स्वामीजी के लिये उपयुक्त भोजन कानाई महाराज बनाते थे। उन्हें पेट के अनुसार झोल आदि की व्यवस्था हुई थी। उन दिनों स्वामीजी सबके खाने-पीने की देखभाल किया करते थे। रोग के कारण तब उनका स्वयं का भोजन काफी घट गया था।

''वहाँ स्वामीजी ने विष्णुपाद का दर्शन किया। उसके बाद सुबह के समय चाय आदि पीकर घोड़ेगाड़ी में बोधगया की यात्रा हुई। दस-ग्यारह बजे तक हम लोग वहाँ पहुँच गये। महन्त महाराज के निवास के सामने ही मुख्यद्वार था। गाड़ी वहीं जाकर खड़ी हुई। उन दिनों वे ही बोधगया के दसनामी मठ के अधीश्वर थे – आयु कम थी – २८-३० रही होगी।[७३] नाम था कृष्णदयाल गिरि, नेपाल का शरीर था। स्वामीजी का स्वागत करने के लिये वे अपने शिष्यों के साथ खड़े थे। उन्हें पहले से ही सूचित कर दिया गया था। स्वामीजी की भी आयु कम थी। महन्तजी का बड़ा सुन्दर व्यक्तित्व था। दमकता हुआ गोरा रंग था। उन्होंने कौपीन तथा ऊपर से एक वस्त्र धारण कर रखा था। जैसे उत्तरी भारत के साधु लोग पीठ की ओर गाँठ लगाकर धोती पहनते हैं, वैसे ही पहन रखा था। पाँवों में खड़ाऊँ था। हाथ जोड़कर खड़े थे। विनय की मधुर प्रतिमूर्ति थे।

''स्वामीजी के गाड़ी से उतरते ही महन्तजी ने उन्हें प्रणाम किया और पूरी टोली को साथ लेकर भीतर चले। आगे-आगे स्वामीजी, उनके पीछे मैक्लाउड तथा ओककुरा और अन्य सेवकगण। सबको ऊपर अपनी गद्दी के पास ले गये। देखने में आया कि महात्मा ही महात्मा की सेवा करना जानते हैं। उन्होंने स्वामीजी को गद्दी पर बैठाया। मैक्लाउड तथा ओकाकुरा भी स्वामीजी के पास गद्दी पर ही बैठे। महन्तजी ने कोई आपत्ति नहीं दिखायी। स्वयं हाथ जोड़े नीचे स्वामीजी के चरणों के पास बैठे रहे। स्वामीजी कुर्ता, गेरुआ चादर, जूते-मोजे तथा कान ढकनेवाली टोपी पहने हुए थे। महन्तजी बारम्बार कहने लगे, 'मैं धन्य हुआ – मेरा अहोभाग्य है।'

''स्वामीजी के ठहरने की बड़ी अद्‌भुत व्यवस्था हुई। उन्हें एक पूरा भवन दिया गया था। महन्तजी ने अपने चेलों से कह दिया था कि उन्हें जब जिस वस्तु की भी आवश्यकता हो, तत्काल उपलब्ध कराया जाय। बोधगया के मठ में किसी चीज का अभाव न था। इस विशाल भवन पर दो

७१. द मास्टर ऐज आइ सा हिम (अंग्रेजी), १९७२, पृ. २५३-५४

७२. युगनायक विवेकानन्द, खण्ड ३, पृ. ३५१

७३ स्वामीजी जब १५ वर्ष पूर्व – १८८६ ई. में बोधगया गये थे, तब ११वें महन्त हेम नारायण गिरि (१८६७-१८९१) से मिले थे।

सरकारी चौकीदार पहरा देते रहते थे। उस भवन में कम-से-कम ४०-५० कमरे रहे होंगे। दुमंजले पर एक बड़ा हॉल था। स्वामीजी उस हॉल में ही ठहरे। उसी भवन में मैक्लाउड के लिये अलग निवास की व्यवस्था हुई। ओकाकुरा के ठहरने के लिये भी अलग स्थान दिया गया था।

''१०-१५ मिनट के भीतर ही बड़े-बड़े थालों में सीधा आ गया – चावल, दाल, नमक, घी, मसाला आदि। हम लोगों के साथ एक रसोइया ब्राह्मण भी था। मैक्लाउड उबली हुई चीजें खाती थीं। प्रतिदिन एक थाले भर सन्तरे और बादाम, पिस्ता आदि विभिन्न प्रकार के मेवे आते।

''महन्तजी प्रतिदिन सुबह और किसी-किसी दिन शाम को भी करीब दो घण्टे स्वामीजी के साथ धर्म तथा अध्यात्म पर चर्चा किया करते। ये चर्चाएँ हिन्दी में ही होतीं। बीच-बीच में संस्कृत श्लोक बोलते रहते। स्वामीजी ने सब कुछ देखने और बातें करने के बाद कहा था, ''ये बड़े विद्वान्, निष्ठावान, धार्मिक, अति सज्जन और अत्यन्त महान् व्यक्ति हैं। सामान्यत: ऐसे व्यक्ति देखने में नहीं आते। एक सच्चे साधु का दर्शन मिला।'' इन चर्चाओं के फलस्वरूप दोनों व्यक्ति आनन्द से परिपूर्ण हो जाते। मुझमें ऐसी क्षमता न थी कि उस चर्चा में भाग लेकर रसास्वादन कर पाता। मैं बाहर का ही हालचाल देखता रहता। महन्तजी सर्वदा दीन भाव से स्वामीजी के चरणों के पास बैठे रहते। और सर्वदा इस बात का ध्यान रखते कि सेवा में किसी प्रकार की त्रुटि न हो।

''स्वामीजी बोधगया के इन महन्त के त्याग की बड़ी प्रशंसा किया करते थे। उसी मठ में मैं रोज शाम को देखता कि १००-१५० बैलों पर लादकर लकड़ियाँ लायी जा रही हैं। उसी से साधुओं की धूनी तथा रसोई की व्यवस्था होती थी। विराट् जमींदारी थी। स्वामीजी बोले, ''देख तो, इतनी विपुल सम्पत्ति भी इन्हें बाँध नहीं सकी है – गुलाम नहीं बना सकी है।'' मैंने देखा कि उन दिनों हर रोज उनके यहाँ ५०-६० साधु निवास कर रहे थे। वे प्रत्येक की खोज-खबर लिया करते थे। पहले देख लेते कि उनकी सेवा हुई है या नहीं, ठीक-ठीक सीधा मिला है या नहीं; उसके बाद वे स्वयं भोजन करने जाते। एक समय हविष्यान्न खाते थे।

''एक दिन ब्रह्मदेश से कुछ बौद्ध तीर्थयात्री नर-नारी आये। उन्होंने महन्तजी से पूछा कि क्या हम लोगों के मकान में ही उनके रात्रिवास की व्यवस्था हो सकती है? मैं समझ गया कि हम लोगों के लिये आरक्षित भवन ही उन दिनों यात्री-निवास के रूप में उपयोग किया जाता था। महन्तजी विनय की प्रतिमूर्ति थे; तत्काल बोले, ''मैंने पूरा भवन स्वामीजी के लिये छोड़ दिया है। उनकी अनुमति हो, तो तुम लोग सहज ही उसमें रह सकते हो। इस समय मकान उन्हीं का है।'' स्वामीजी ने तत्काल अनुमति दे दी।

''उन्हीं दिनों बोधगया के डाकबँगले में एक बंगाली सज्जन भी कुछ दिनों के लिये ठहरे थे। वे भी प्रतिदिन स्वामीजी का दर्शन करने आया करते थे। उनकी स्वामीजी के प्रति प्रगाढ़ भक्ति थी। वे प्रतिदिन एक घड़ा ताड़ का और एक घड़ा खजूर का रस भेजा करते थे। ताड़ का रस स्वामीजी ने ओकाकुरा को पिलाने को कहा। हम सभी खजूर का रस पीते थे। ... स्वामीजी के मस्तिष्क में नयी-नयी कल्पनाएँ सूझतीं। कहते, 'इतना खजूर का रस आता है और बरबाद होता है। एक काम करें – आज खजूर रस के जल से भात बनाओ।'' वैसा ही किया गया। उन्होंने भी थोड़ा-सा खाया। हम लोगों को खिलाने के लिये बाजार से एक-एक दिन एक-एक प्रकार की चीज मँगवाकर रसोई बनवाते। वे स्वयं पक्के रसोइये थे। किस चीज के बाद कौन-सी चीज परोसनी चाहिये, सब बतला देते।

''बोधगया में हम लोगों ने ७-८ दिन निवास किया। स्वामीजी प्रतिदिन मन्दिर में जाते। हम सभी को पत्थर से बनी हर मूर्ति का भाव और कला की दृष्टि से उसकी विशेषता समझा देते। मन्दिर के उत्तर-पश्चिमी कोने के एक कक्ष में जापानी बुद्धमूर्ति थी। वह ठीक स्वामीजी की बैठी हुई मूर्ति के समान लग रही थी। ऐसा लगा मानो बुद्ध के समान ही कोई व्यक्ति स्वयं ही पत्थर की बनी हुई एक सुन्दर तथा निष्पन्द बुद्ध का दर्शन करा रहा हो।

''इसके बाद एक दिन हम लोग कुछ मील दूरी पर स्थित बौद्ध गुफाओं को देखने गये। स्वामीजी डण्डी में; मैक्लाउड, ओकाकुरा तथा मैं हाथी पर; और नादू तथा कानाई महाराज शायद घोड़े पर गये थे। तीनों तरह की सवारियों का प्रबन्ध था। वहाँ सिपाही लोग पहरा दे रहे थे। चाय-पानी की भी अच्छी व्यवस्था हुई थी। शरबत, फल, मिठाइयाँ – सब में से थोड़ा-थोड़ा लिया गया। स्वामीजी – विश्राम करने के बाद गुफाओं को देखने के लिये पहाड़ पर चढ़े। तीन-चार गुफाएँ बड़ी सुन्दर थीं। भीतर की दीवारों पर अद्भुत सुन्दर मूर्तियाँ खुदी हुई थीं। प्राचीन काल में साधु-संन्यासी वहाँ ध्यान करते थे। सब कुछ देखते प्राय: संध्या हो गयी थी।''[७४]

बोधगया से प्रस्थान

बोधगया में ६-७ दिन निवास करने के बाद ४ फरवरी १९०२ को इस टोली ने वाराणसी की यात्रा की। नरेशचन्द्र घोष ने आगे लिखा है, ''गया से हम लोग वाराणसी गये। मैक्लाउड कलकत्ते लौट गयीं। हमारे साथ जो उड़िया ब्राह्मण रसोइया था, उसका नाम कृपासिन्धु था। दोपहर का भोजन आदि हो जाने के बाद हम लोग ट्रेन में सवार हुए। स्वामीजी तथा ओकाकुरा सेकेंड क्लास में बैठे। ... (वाराणसी में)

७४. स्मृतिर आलोय स्वामीजी (बँगला) पृ. २७१-७३

उन्होंने ओकाकुरा को काली किनारी की धोती और रेशम की पगड़ी आदि पहनाया और विश्वनाथ का दर्शन कराने भेज दिया। उनके साथ और भी १५-२० लोग गये। स्वामीजी स्वयं नहीं गये। ओकाकुरा की टोली ५-७ घोड़ेगाड़ियों में विश्वनाथ-दर्शन करने गयी। उन्हें देखकर लग रहा था कि नेपाल के राजवंश का कोई होगा।''[७५] ७ फरवरी को स्वामीजी ने मैक्लाउड के नाम अपने पत्र में लिखा था – ''हमारे मित्र को मुख्य मन्दिर में प्रवेश करने और शिवलिंग का स्पर्श तथा पूजा करने में कोई बाधा नहीं आई। लगता है कि बौद्ध लोगों को सदा से ही इसकी अनुमति थी।''[७६]

इस पत्र के साथ उन्होंने कलकत्ते से बोधगया होते हुए वाराणसी तक की यात्रा का हिसाब भी भेजा है, जिससे पता चलता है कि कलकत्ते से बोधगया तक जाने में ३० रुपये, १० आने और ३ पाई खर्च हुए थे। ४ फरवरी को गया से बनारस तक के रेल-टिकट की कीमत २० रुपये ४ आने लगे थे। ६ फरवरी तक कुल १०० रुपये खर्च हो चुके थे।

इसके बाद स्वामीजी १० फरवरी को श्रीमती ओली बुल के नाम अपने पत्र में लिखते हैं, ''ओकाकुरा अपने संक्षिप्त दौरे पर निकल पड़े हैं। वे आगरा, ग्वालियर, अजन्ता, एलोरा, चित्तौड़, उदयपुर, जयपुर और दिल्ली आदि स्थानों का परिदर्शन करना चाहते हैं। ... निरंजनानन्द भी ओकाकुरा के साथ गया है और एक जापानी होने से किसी मन्दिर में आने-जाने से उसे कोई मना नहीं करता। ऐसा लगता है कि तिब्बती, अन्य उत्तर-प्रान्तीय और बौद्ध – यहाँ शिव की उपासना के लिए सदा से आते रहे हैं। यहाँवालों ने उसे शिवलिंग का स्पर्श करने तथा पूजा आदि करने की अनुमति दे दी थी। ... बौद्ध हमारे यहाँ के किसी भी बड़े मंदिर में अहिन्दू नहीं समझे जाते।''

इस दौरान भगवान बुद्ध तथा बौद्ध धर्म विषयक चिन्तन तथा चर्चा के फलस्वरूप स्वामीजी के प्राचीन भारत तथा उसके बौद्ध धर्म से सम्बन्ध के विषय में काफी परिवर्तन ला दिया था। वाराणसी से ही ९ फरवरी को अपने शिष्य स्वामी स्वरूपानन्द के नाम एक पत्र में वे लिखते हैं, ''बौद्ध साहित्य में भी कहीं-कहीं वेदान्त का उल्लेख है और बौद्धों का महायान मत अद्वैतवादी भी है।... बौद्ध धर्म के दोनों मतों में मैं महायान को अधिक प्राचीन मानता हूँ। माया का सिद्धान्त ऋक् संहिता के समान प्राचीन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'माया' शब्द का प्रयोग है, जो प्रकृति से विकसित हुआ है। इस उपनिषद् को कम से कम मैं बौद्ध धर्म से प्राचीन मानता हूँ। बौद्ध धर्म के विषय में मुझे कुछ दिनों से बहुत सा ज्ञान हुआ है। मैं इसका प्रमाण देने को तैयार हूँ कि – (१) शिव-उपासना अनेक रूपों में बौद्धमत से पहले स्थापित थी और बौद्धों ने शैवों के तीर्थस्थानों को लेने का प्रयत्न किया, परन्तु सफल होने पर उन्होंने उन्हीं के निकट नये स्थान बनाये, जैसा कि बोधगया और सारनाथ में दीख पड़ता है। (२) अग्निपुराण में गयासुर की कथा का बुद्ध से सम्बन्ध नहीं – जैसा कि डॉ. राजेन्द्रलाल मानते हैं – परन्तु उसका सम्बन्ध केवल पहले से ही वर्तमान एक कथा से है। (३) बुद्धदेव गयाशीर्ष पर्वत पर रहने गये, इससे यह प्रमाण मिलता है कि वह स्थान पहले से ही था। (४) गया पहले से ही पूर्वजों की उपासना का स्थान बन चुका था और चरण-चिह्न की उपासना में बौद्धों ने हिन्दुओं का अनुकरण किया है।... (५) प्राचीन से प्राचीन पुस्तकें भी यह प्रमाणित करती हैं कि वाराणसी शिवपूजा का बड़ा स्थान था, आदि आदि। बोधगया और बौद्ध साहित्य से मैंने बहुत-सी नयी बातें जानी हैं।... बौद्ध धर्म और नव-हिन्दू धर्म के सम्बन्ध के विषय में मेरे विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। उन विचारों को निश्चित रूप देने के लिए शायद मैं जीवित न रहूँ, परन्तु उसकी कार्यप्रणाली का संकेत मैं छोड़ जाऊँगा और तुम्हें तथा तुम्हारे गुरुभाइयों को उस पर काम करना होगा।''[७७]

ओकाकुरा का तीसरा उद्देश्य

ओकाकुरा जापान में ही स्वामीजी की अमेरिकी मित्र मिस मैक्लाउड से मिले और उन्हीं के निमंत्रण पर स्वामीजी से मिलने भारत – बेलूड़ मठ आये। ऐसा लगता है कि उनकी इस यात्रा के पीछे तीन उद्देश्य थे। पहला – स्वामीजी को धर्म-प्रचार हेतु जापान ले जाना। दूसरा – भारत की प्राचीन शिल्प कला के नमूनों का अध्ययन करना। और एक तीसरा उद्देश्य भी था – बोधगया में जापानी तीर्थयात्रियों की सुविधा हेतु एक धर्मशाला बनाने के लिये एक भूखण्ड की प्राप्ति। विभिन्न कारणों वश यह विषय स्वामीजी के जीवनीकारों के लिये अछूता रह गया है। इसका सम्भवत: एक कारण था – अंग्रेज सरकार की इस विषय में वक्रदृष्टि।

श्री कालीपद विश्वास ने कलकत्ता से प्रकाशित होनेवाले अंग्रेजी दैनिक 'अमृत बाजार पत्रिका' के ६ जून १९७६ के अंक में एक लेख – 'जापानस फाइट फार लैंड ऐट महाबोधि टेम्पुल' लिखकर स्वामीजी के साथ ओकाकुरा की बोधगया-यात्रा के इस बिन्दु पर कुछ प्रकाश डाला है। इस लेख के अनुसार – वे मन्दिर के निकट दो-तीन बीघा जमीन खरीदने के विषय में मन्दिर के महन्त के साथ चर्चा करना चाहते थे, ताकि वहाँ जापानी तीर्थयात्रियों की सुविधा के लिये एक विश्रामगृह बनाया जा सके।

ओकाकुरा को मालूम था कि स्वामीजी बुद्धदेव के प्रति

७५. स्मृतिर आलोय स्वामीजी (बँगला), पृ. २७५

७६. कम्प्लीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड ९, पृ. १७७

७७. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, प्र. सं. १९६३, पृ. ३८७-८८

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

माँ का त्याग

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी के कुछ संस्मरणों तथा चार पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा' तथा 'काठियावाड़ की कथाएँ' का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। प्रथम तीन का नागपुर मठ से ग्रन्थाकार प्रकाशन भी हो चुका है। १९३७ ई. में उन्होंने महाभारत की कुछ कथाओं का बँगला में पुनर्लेखन किया था। जिसकी पाण्डुलिपि हमें श्री ध्रुव राय से प्राप्त हुई हैं। उन्हीं रोचक तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

उन दिनों पाण्डव गण अज्ञात रूप से एकचक्रा नगर के एक निर्धन ब्राह्मण के घर में निवास कर रहे थे। साथ में माता कुन्ती भी थीं। सबने ब्राह्मण के वेश धारण कर रखे थे और उनकी आजीविका भी तदनुकूल ही थी अर्थात् वे भिक्षा-वृत्ति पर निर्वाह कर रहे थे। एक दिन कुन्ती ने सुना कि ब्राह्मणों में रोना-पीटना चल रहा हैजीवनही थी। रुदन सुनते ही वे दौड़कर यह देखने गयीं कि बात क्या है ! उन्होंने देखा कि ब्राह्मण अतीव चिन्ताग्रस्त होकर विलाप कर रहे हैं और उनकी पत्नी, पुत्र तथा कन्या भी क्रन्दन कर रहे हैं। कुन्ती ने पूछा, "हे ब्राह्मण, आप लोग रो क्यों रहे हैं? किस दु:ख के कारण आप लोग इतने कातर हो रहे हैं? यदि सम्भव हुआ, तो मैं उसे दूर करने की चेष्टा करूँगी।"

ब्राह्मण – "(मेरा दु:ख ऐसा नहीं है, जिसे कोई मनुष्य दूर कर सके। आप लोग बड़े सज्जन हैं, इसलिये आपका वैसा प्रश्न करना उचित ही है, परन्तु) इस नगर के पास बक नाम का एक महा बलवान राक्षस रहता है। वही एक तरह से यहाँ का राजा बन बैठा है। वह बाहर के संकटों से तो नगर की रक्षा करता है, परन्तु उसके उत्पात से यह नगर अब उजाड़ हो चला है। उसे प्रतिदिन खाने के लिये एक मनुष्य चाहिये और नागरिकों ने बारी-बारी से उसके लिये भोजन भेजने की व्यवस्था कर दी है। आज मेरी बारी है, इसीलिये हम लोग चिन्ता में पड़े हैं कि हम लोगों में से आज कौन जायेगा ! मेरे पास इतने पैसे भी नहीं हैं कि किसी दास को खरीदकर भेज सकूँ। दूसरी ओर अपने सगों को भेजने के

पिछले पृष्ठ का शेषांश

परम श्रद्धाभाव रखते हैं और बोधगया के महन्त भी स्वामीजी को बहुत मानते हैं, अत: उन्होंने इस सन्दर्भ में स्वामीजी की सहायता माँगी थी। लगता है कि स्वामीजी ने ओकाकुरा के कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयास भी किया था, पर इस दिशा में उन्होंने क्या कदम उठाये, यह ज्ञात नहीं। वैसे तत्काल उनके इस संयुक्त प्रयास को सफलता नहीं मिल सकी थी।

इस सन्दर्भ में ओकाकुरा, स्वामीजी तथा बोधगया के महन्त के बीच कुछ पत्र-व्यवहार भी हुआ था। इनमें से केवल ओकाकुरा द्वारा स्वामीजी के नाम लिखे हुए केवल दो पत्र ही यहाँ उल्लेखनीय हैं। अमेरिकन कौंसुलेट के पते से अपने ८ फरवरी १९०२ के पत्र में उन्होंने लिखा है, "मैंने बोधगया के महन्त को यह सूचित करते हुए पत्र लिखा है कि जमीन होगाशी-हुगांची सम्प्रदाय को चाहिये, जो जापानी बौद्धों का प्रतिनिधित्व करता है।" २६ फरवरी को जलगाँव से लिखे गये दूसरे पत्र में है, "यदि महन्त ने अपने किसी निर्णय के विषय में आपको लिखा हो, तो क्या आप अमेरिकन कौंसुलेट के पते पर मुझे उसकी सूचना देंगे?"[७८]

२१ फरवरी, १९०२ को स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित पत्र में, वाराणसी से स्वामीजी ने बताया है – "कई दिन हुए मुझे 'चाचा' (ओकाकुरा) का एक पत्र मिला था। उनकी अंतिम सूचना के अनुसार वे अजंता गये हुए थे। महन्त ने भी उत्तर नहीं दिया, शायद वे राजा प्यारीमोहन को पत्रोत्तर देते समय मुझे लिखेंगे।"

इस सन्दर्भ में स्वामीजी द्वारा ओकाकुरा तथा महन्तजी को लिखे हुए कोई भी पत्र उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु लगता है कि जमीन के बारे में उन्हें सार्थक उत्तर नहीं मिल सका था।

ओकाकुरा पुन: बोधगया में

निवेदिता के पत्र के अनुसार १९ अप्रैल को ओकाकुरा, ओडा तथा होरी एक बार फिर बोधगया गये और (सम्भवत: महन्तजी से मिलकर) २८ अप्रैल को बेलूड़ मठ लौट आये।

४ जुलाई १९०२ ई. को स्वामीजी ने देहत्याग कर दिया। इसके बाद भगिनी निवेदिता ने कई बार बोधगया का दौरा किया। ओकाकुरा ने लगभग १० वर्ष बाद सुरेन्द्रनाथ टैगोर के साथ एक बार फिर आकर इसके लिये दुबारा प्रयास किया था।[८०] परन्तु अंग्रेज सरकार जापानी बौद्धों के इस प्रयास के प्रति भी शंकालु थी, अत: इस दिशा में तत्काल कोई सफलता नहीं मिल सकी।[८१] ❑❑❑

७८. ए काम्प्रिहेंसिव बायोग्रैफी ऑफ स्वामी विवेकानन्द, शैलेन्द्रनाथ धर, चेन्नै, भाग ३, सं. २००५, पृ. ११९७-९८; ७९. समकालीन भारतवर्ष, खण्ड ५, प्र.सं. पृ. ४६६; ८०. ए काम्प्रिहेंसिव बायोग्रैफी, भाग ३, पृ. ११९८; ८१. महाबोधि सोसायटी जर्नल, के अप्रैल १९२५ तथा जनवरी १९२६ अंक (द्र. धर, पृ. ११९७)।

लिये मन जरा भी तैयार नहीं होता। ... यहाँ का राजा दुर्बल है, प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ है, नहीं तो वह इस राक्षस को यमलोक भेजकर प्रजा के प्राणों की रक्षा करता। इसीलिये बुद्धिमान नीतिकारों ने दुर्बल राजा के राज्य में रहने से मना किया है। जो राजा दुष्टों के अत्याचार से प्रजा के प्राण, धन, मान आदि की रक्षा नहीं कर सकता, वह राजा होने के योग्य नहीं है। उसके आश्रय में निवास करने पर दु:ख ही मिला करता है। अस्तु। बक राक्षस के हाथों से बचने का कोई उपाय नहीं है। आज किसी एक की मृत्यु अवश्यम्भावी है। हम लोगों ने निश्चय किया है कि हम सभी जायेंगे और सभी एक साथ मरेंगे। इससे किसी को भी अपने किसी अन्य प्रिय जन के अभाव में दु:खभोग नहीं करना पड़ेगा।''

कुन्ती – ''भय की कोई बात नहीं, ब्राह्मण! राक्षस के पास तुम लोगों को जाने की कोई जरूरत नहीं। मेरे पाँच पुत्र हैं, उन्हीं में से कोई चला जायेगा। तुम लोग निश्चिन्त रहो।''

ब्राह्मण – ''नहीं, नहीं, ऐसा भी क्या हो सकता है! एक तो आप लोग ब्राह्मण हैं और दूसरे अतिथि हैं; हम लोगों के लिये आप लोगों में से कोई प्राण दे, इसके लिये मैं भला कैसे राजी हो सकता हूँ? आप लोग अति कुलीन तथा धर्मप्राण हैं, क्योंकि इतने बड़े त्याग का संकल्प कोई साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता। फिर धर्म की दृष्टि से विचार करने पर भी लगता है कि ब्रह्महत्या की अपेक्षा आत्महत्या कहीं अधिक अच्छा है। यह तो स्वेच्छाकृत आत्मघात नहीं है, राजविधि के अनुसार विवश होकर जाना होगा, इसलिये पाप का भी भय नहीं है। इससे यदि किसी को पाप लगता हो, तो वह राजा को लगेगा, क्योंकि वह रक्षा करने में असमर्थ है। इसके अतिरिक्त, आप लोगों ने मेरे घर में, मेरे आश्रय में हैं, मैं जान-बूझकर भला कैसे आप लोगों को मृत्यु के मुख में जाने दूँ? ऐसे तो मुझसे अत्यन्त गर्हित तथा निन्दनीय कर्म हो जायेगा। अत: क्षमा कीजिये, ऐसे अधर्म के लिये मैं अपनी सहमति नहीं दे सकता।''

कुन्ती – ''नहीं, आपका कोई अधर्म नहीं होगा, क्योंकि मेरे पुत्रगण बक के समान राक्षस का वध करने में समर्थ हैं। उनके पास ऐसी विद्या है, अत: आप निश्चिन्त रहें।''

इसके बाद उन्होंने भीम को बकासुर के लिये भोजन ले जाने की आज्ञा दी।

युधिष्ठिर ने भिक्षाटन के बाद लौटकर जब सुना कि भीम बकासुर का भोजन लेकर उसके पास जायेंगे, तो उन्हें लगा कि ऐसा दु:साहस ठीक नहीं होगा, अत: वे जाकर कुन्ती से बोले – ''माँ, भीम जो यह दु:साहस करने जा रहा है, इसके लिये क्या तुम्हारी अनुमति मिली है?''

कुन्ती – ''हाँ, वह मेरी ही आज्ञा से – इन ब्राह्मणों तथा इस नगर का दु:ख दूर करने जा रहा है।

युधिष्ठिर – ''परन्तु माँ, यह दु:साहस क्या उचित होगा? फिर दूसरे के बदले अपने पुत्र को मृत्यु के मुख में भेजना – ऐसे लोक-विरुद्ध कार्य का तुमने कैसे निर्णय लिया, क्योंकि कोई भी माँ अपनी सन्तान का जीवन किसी को समर्पित नहीं करती। और तुम यह भी जानती हो कि हमारी सफलता भीम के बाहुबल पर ही निर्भर है। (उसी के कारण आज हम निश्चिन्त होकर घूम-फिर पा रहे हैं। वह निरन्तर तरह-तरह के संकटों से हमारी रक्षा करता रहा है।) फिर हमारे न्याय-संगत दावे के अस्वीकृत हो जाने के कारण भविष्य में, दुर्योधन आदि के साथ युद्ध की सम्भावना बनी हुई है, उसमें विजय की प्राप्ति काफी-कुछ भीम के बल पर ही निर्भर करती है। मेरी समझ में नहीं आता कि यह सब जानते हुए भी तुमने जल्दबाजी में क्यों इतने बड़े त्याग का संकल्प कर लिया! मुझे तो लगता है कि काफी दिनों से दु:ख-कष्ट सहते-सहते तुम्हारा हित-अहित का बोध चला गया है!''

कुन्ती – ''युधिष्ठिर, मेरी विचार-शक्ति दुर्बल नहीं हुई है। मैंने जो कुछ भी किया है, वह धर्म के अनुसार ही किया है। हम लोग इनके आश्रय में निश्चिन्त होकर निवास कर रहे हैं। हमारे लिये भी इनके उपकार के बदले में इनके लिये कुछ करना उचित है। क्या तुम्हें इस बात में कोई सन्देह है? किसी भी उपकार के बदले में प्रत्युपकार अनेकगुना होना चाहिये, तभी धर्मलाभ होता है; इसी कारण मैंने ऐसे कार्य का साहस किया है। इसके द्वारा हमारी कोई हानि नहीं, अपितु लाभ ही होने की सम्भावना है। भीम के प्रचण्ड बाहुबल पर मेरा अटूट विश्वास है। वह अनायास ही उस राक्षस का वध करके इन ब्राह्मणों तथा समस्त नगरवासियों का आशीर्वाद प्राप्त करेगा।''

युधिष्ठिर – ''माँ, तुमने दुखी ब्राह्मणों के ऊपर दया करके अच्छा ही किया है, परन्तु हम लोग यहाँ पर गुप्त रूप से निवास कर रहे हैं, कहीं नगर में इस बात का प्रचार न हो जाय कि हमने बकासुर को मारा है। तुम ब्राह्मण को इस विषय में सावधान कर देना।''

रात बीती। भोर के समय भीमसेन भोजन की वस्तुएँ लेकर बकासुर के किले में जा पहुँचे। निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच कर वे वह सारा भोजन स्वयं ही खाने लगे। बकासुर यह देखकर आगबबूला हो गया और भीम को मारने दौड़ा। परन्तु वे राक्षस की जरा भी परवाह किये बिना आनन्दपूर्वक आहार ग्रहण करते रहे। भोजन समाप्त हो जाने के बाद वे उठकर बकासुर के साथ युद्ध में उतरे। भीम कुस्ती लड़ने में पारंगत थे। उन्होंने पलक झपकते ही बकासुर को चित्त कर दिया और अपने घुटने से उसके सीने को दबाकर उसके अस्थि-

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

स्वामी स्वरूपानन्द (२)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

स्वामीजी के प्रिय शिष्य कैप्टेन तथा श्रीमती सेवियर उन दिनों अल्मोड़ा में थे। कलकत्ते की गर्मी में स्वामीजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था, इसीलिये वे लोग खूब अनुरोध कर रहे थे कि वे अल्मोड़ा आ जायँ। आखिरकार स्वामीजी सहमत हुए और बोले, "तुरीयानन्द और सदानन्द मेरे साथ चलें। स्वरूप का स्वास्थ्य ठीक नहीं है, वह भी चले।" तदनुसार स्वामीजी के साथ स्वरूपानन्द ने भी अल्मोड़ा की यात्रा की। इस टोली में तुरीयानन्द जी तथा सदानन्द के अतिरिक्त निवेदिता, जया (मैक्लाउड) तथा धीरामाता (ओली बुल) आदि भी थे। कलकत्ते के अमेरिकन कौन्सुल-जनरल की पत्नी श्रीमती पैटर्सन भी उन लोगों के साथ गयी थीं। १६ मई को स्वामीजी अपनी टोली के साथ अल्मोड़ा पहुँचे।

अल्मोड़ा में स्वामीजी लाला बद्री साह के 'टॉमसन हाउस' नामक बंगले में ठहरे हुए थे। स्वरूपानन्द ने नि:सन्देह इन्हीं दिनों श्रीगुरु के अति निकट सान्निध्य का लाभ उठाकर अपने जीवन-पथ के लिये यथेष्ट पाथेय संग्रह कर लिया था। स्वामीजी के दिव्य जीवन की सहायता से वे व्यक्तिगत तथा अन्य प्रकार की अनेक समस्याओं का अद्भुत रूप से समाधान पाते जा रहे थे। स्वामीजी के साथ उनके इस समय के वार्तालाप का कुछ अंश प्रकाशित हुआ है,[४] तथापि उसके पूर्ण रूप से प्रकाशित होने पर देश का महान् कल्याण होता। स्वरूपानन्द को इसी प्रकार श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द द्वारा प्रवर्तित वर्तमान धर्म-आन्दोलन का वैशिष्ट्य, उद्देश्य तथा उपाय के विषय में भावोद्दीपक अपूर्व विचारधारा के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस युगधर्म-साधना के पथ के विषय में बोलते हुए एक दिन स्वामीजी ने स्वरूपानन्द को कहा था, "हमारी कार्य-पद्धति को बड़ी आसानी से व्यक्त किया जा सकता है। एक वाक्य में कहा जाय, तो यह राष्ट्रीय जीवन को पुनर्जीवित करना है। त्याग और सेवा ही हमारे राष्ट्रीय आदर्श हैं। इन दोनों धाराओं को ठीक रखो, बाकी सब अपने आप ही हो जायेगा।" नवीन भारत के मंत्रगुरु के अपने मुख से उच्चरित इस उक्ति ने स्वरूपानन्द को एक बार फिर नये सिरे से राष्ट्रीय आदर्शबोध में अनुप्राणित कर दिया था। उनके परवर्ती जीवन में इसके असंख्य प्रमाण प्राप्त होते हैं।

स्वामीजी के अल्मोड़ा-प्रवास के दौरान दो दुखद समाचारों ने उन्हें बड़ा ही विचलित कर दिया था। पहली खबर थी – ऊटकमण्ड में उनके प्रिय अनुचर गुडविन का देहत्याग; और दूसरा संवाद था – मद्रास के महान् भक्त कर्मी राजम् अय्यर की आकस्मिक मृत्यु। राजम् अय्यर स्वामीजी के भावों से अनुप्राणित होकर वेदान्त-प्रचार के निमित्त 'प्रबुद्ध भारत' नामक एक अंग्रेजी मासिक पत्रिका का बड़ी कुशलता-पूर्वक सम्पादन तथा परिचालन कर रहे थे। १८९६ ई. के जुलाई से ही यह पत्रिका नियमित रूप से प्रकाशित हो रही थी। परन्तु मई (१८९८) में ही अय्यर के देहावसान से 'प्रबुद्ध भारत' के जून अंक के बाद उसका प्रकाशन बन्द हो गया। अय्यर के वियोग ने स्वामीजी के प्राणों में दुगना शोक उत्पन्न किया था, क्योंकि वेदान्त-प्रचार की एक इतनी महत्त्वपूर्ण सम्भावना सदा के लिये अवरुद्ध हो गयी थी। अस्तु। इस प्रचण्ड आघात से स्वामीजी की विचारधारा एक नवीन दिशा में गतिशील हुई और इससे उनके द्वारा प्रवर्तित

४. द्र. Prabuddha Bharata पत्रिका का सितम्बर १८९८ का अंक

पिछले पृष्ठ का शेषांश

पंजर को चकनाचूर कर दिया। अन्त में उन्होंने उसके मेरुदण्ड को धनुष के समान तोड़ झुकाकर तोड़ डाला। इस प्रकार बकासुर यमलोक में जा पहुँचा।

माता कुन्ती ने बक राक्षस को मारने के लिये अपने पुत्र भीम को भेजा था। उन्होंने माँ होकर भी दुखियों का दु:ख दूर करने हेतु अपनी एक सन्तान को राक्षस के पास भेजा, यह उनका कितना बड़ा त्याग था! मान लीजिये कि यदि बकासुर भीम को मारकर खा डालता, तो क्या माता कुन्ती के मन में दु:ख नहीं होता!

भारत की नारियाँ माता कुन्ती के समान ही सर्वदा – दुर्बल की रक्षा के लिये, समाज की रक्षा के लिये, राष्ट्रहित की रक्षा के लिये, धर्म की रक्षा के लिये – अपने प्राणों से भी प्रिय सन्तान को सहज भाव से बलिदान करती आयी हैं। यही मानव-धर्म है और श्रेष्ठ मानव होने के कारण पाण्डवगण सर्वदा इस धर्म का पालन करने को प्रस्तुत रहते थे।

❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑

वेदान्त-आन्दोलन में वस्तुत: एक ऐतिहासिक फल उत्पन्न हुआ। शोकपीड़ित स्वामीजी ने कैप्टेन सेवियर को बुलाकर कहा, "मिस्टर सेवियर, आप भारत के कल्याण हेतु कार्य करना चाहते थे न! बंगाल की जलवायु तथा गर्मी सह पाना आपके लिये असम्भव है, अत: आप अल्मोड़ा के निकटस्थ किसी स्थान से 'प्रबुद्ध भारत' को चलाने का भार क्यों नहीं ग्रहण कर लेते? इस पत्रिका के तीन हजार से भी अधिक ग्राहक हैं। मेरी ही सलाह पर इसका प्रकाशन आरम्भ हुआ और क्रमश: यह वेदान्त-प्रचार का एक विशेष यंत्रस्वरूप हो गया था। मैं नहीं चाहता कि यह बन्द हो। मैं आपको एक योग्य सम्पादक भी दे रहा हूँ। स्वरूपानन्द को इस कार्य का अनुभव है। आपकी और स्वामी तुरीयानन्द की सहायता से वह इस कार्य को अनायास ही चला सकेगा।" विधाता की इच्छा से उनके धर्मचक्र ने एक बार फिर नये उद्यम के साथ घूमना शुरू किया। सेवियर ने स्वामीजी के आदर्श को आशीर्वाद-रूप में शिरोधार्य किया। अल्मोड़ा से ही 'प्रबुद्ध भारत' के प्रकाशन की व्यवस्था हुई – स्वरूपानन्द ने उसके सम्पादन का दायित्व ग्रहण किया। स्वामीजी ने अत्यन्त प्रसन्न चित्त के साथ काश्मीर की यात्रा आरम्भ की।

१८९८ ई. के अगस्त से स्वरूपानन्द के सम्पादन में 'प्रबुद्ध भारत' नये कलेवर में प्रकाशित हुआ। उसका नया कार्यालय अल्मोड़ा के 'टॉमसन हाउस' में स्थापित हुआ। वर्तमान अंक में स्वामीजी ने "To the Awakened India" (प्रबुद्ध भारत के प्रति)[५] शीर्षक एक कविता के रूप में अपना एक आशीर्वाद भेजा था। उस अंक में गुडविन[६] के प्रति शोकांजलि के रूप में लिखी गयी स्वामीजी की प्रसिद्ध कविता "Requiescat in Peace" (उसे शान्ति में मिले विश्राम) भी प्रकाशित हुई थी। इस अंक के दो अन्य लेख भी स्मरणीय थे – स्वामी सारदानन्द द्वारा लिखित – "The Outlook of Indian Monism" (भारतीय अद्वैतवाद का दृष्टिकोण) और पवहारी बाबा की महासमाधि पर स्वामीजी का स्मरणीय शोक-सन्देश। "Arise ! Awake ! And stop not till the goal is reached !" – "उठो, जागो और लक्ष्य तक पहुँचे बिना रुको मत!" – स्वामीजी के इस सन्देश को अपना मूलमंत्र बनाकर 'प्रबुद्ध भारत' अपने नवीन पथ पर नयी गति से चल पड़ा।

'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ने लगी और साथ ही इसके लिये एक स्थायी कार्यालय तथा प्रेस की जरूरत महसूस होने लगी। इस पत्रिका के संचालन का कार्य कैप्टेन सेवियर ने स्वयं अपने ही कन्धों पर उठा लिया और इस अपने श्रीगुरु द्वारा आदिष्ट एक महान् व्रत के रूप में इसे सर्वांग-सुन्दर बनाने के प्राण-पण प्रयास में लग गये। उनके तथा स्वरूपानन्द के आन्तरिक प्रयास से अल्मोड़ा से ५० मील दूर हिमालय के जंगलों के बीच स्थित एक निर्जन अंचल में 'माईपट' नामक एक पर्वतीय भूखण्ड खरीदा गया। पहाड़ी 'माईपट' का नवीन नामकरण हुआ 'मायावती' और १८९९ ई. के १९ मार्च को श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि के अवसर पर वहीं स्वामीजी द्वारा आकांक्षित 'अद्वैत आश्रम' स्थापित हुआ। उसी शुभ अवसर पर 'प्रबुद्ध भारत' का प्रधान कार्यालय भी मायावती के अद्वैत आश्रम में स्थानान्तरित हुआ। उसी समय एक छोटा-सा प्रेस भी खरीदा गया था। पत्रिका का सम्पादकीय कार्यालय, प्रेस तथा साधु-कर्मियों के आवास आदि की आश्रम-भवन में व्यवस्था हुई और सेवियर दम्पति भी आश्रम के पास ही स्थित एक अलग भवन में निवास करने लगे। कैप्टेन तथा मदर सेवियर स्वरूपानन्द को अपने पुत्र के समान स्नेह करते थे और स्वरूपानन्द ने भी अपनी हृदयवत्ता, प्रतिभा तथा कार्य-कुशलता के द्वारा उस स्नेह का यथार्थ प्रतिदान किया था। स्वरूपानन्द ने असाधारण योग्यता के साथ पत्रिका के सम्पादक तथा आश्रम के अध्यक्ष के उत्तरदायित्व का निर्वाह किया था।

'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका तथा मायावती आश्रम के इतिहास में स्वरूपानन्द का नाम चिरकाल तक अमर रहेगा। वस्तुत: उन्हीं के सम्पादन-काल के दौरान देश-विदेश के प्रबुद्ध-समाज में इस पत्रिका ने एक गौरव-मण्डित स्थान हासिल किया था। उसी समय से, श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के भाव-प्रचार में उपयोगी एक सशक्त पत्रिका के रूप में इसकी ख्याति सर्वजन-स्वीकृत हो गयी थी। स्वामीजी ने स्वयं ही न्यूयार्क से अपने एक शिष्य को एक बार (अगस्त, १९००) लिखा था, "स्वरूप से कहना कि मैं उसके पत्रिका संचालन पर विशेष प्रसन्न हूँ। वह अद्भुत काम कर रहा है।"

स्वरूपानन्द की तेजोद्दीप्त लेखनी ने 'प्रबुद्ध भारत' को सचमुच ही समृद्ध कर दिया था। स्वामीजी की उक्तियाँ, पत्रावली, रचनाएँ तथा व्याख्यान-मालाएँ 'प्रबुद्ध भारत' में नियमित रूप से प्रकाशित होती रहीं। 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' नामक महाग्रन्थ का श्रीम द्वारा किया हुआ अंग्रेजी अनुवाद भी 'Leaves from the Gospel of Sri Ramakrishna' शीर्षक के साथ उन दिनों 'प्रबुद्ध भारत' के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हुआ करता था। भगिनी निवेदिता भी इस पत्रिका की नियमित लेखिका थीं।

स्वरूपानन्द की अध्यक्षता के दौरान ही मायावती के अद्वैत आश्रम में उसकी सर्वाधिक स्मरणीय घटना हुई थी।

५. कविता के हिन्दी अनुवाद हेतु देखें – विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १०, पृ. १८९-९२ तथा विवेक गीतांजलि, नागपुर, पृ. ५७-५९

६. एक अंग्रेज युवक, जिन्होंने स्वामीजी के अधिकांश व्याख्यानों को शार्टहैंड में लिपिबद्ध किया। उनके इस महान् अवदान के लिये जगत् उनका चिर ऋणी रहेगा।

स्वामीजी का वहाँ पदार्पण ही मायावती के इतिहास की पवित्रतम स्मृति है। २८ अक्तूबर १९०० ई. को अपने प्रिय शिष्य कैप्टेन सेवियर के देहावसान के उपरान्त स्वामीजी शोकार्त मदर सेवियर को सांत्वना प्रदान करने हेतु अपनी अस्वस्थता के बावजूद उस दुर्गम पर्वती मार्ग को पार करके मायावती आ पहुँचे थे। १९०१ ई. के ३ जनवरी को स्वामीजी ने मायावती में पदार्पण किया। स्वामी शिवानन्द तथा सदानन्द भी उनके साथ थे। स्वामीजी ने वहाँ लगभग एक पखवारा निवास किया। इन कुछ दिनों के दौरान ही उन्होंने आश्रमवासी अपने प्रिय शिष्यों के साथ अपनी भावी कर्मनीति के विषय में काफी चर्चाएँ की थीं। स्वरूपानन्द के परिचालन में 'प्रबुद्ध भारत' तथा अद्वैत आश्रम को सुव्यवस्थित रूप से विकास करते देखकर स्वामीजी को बड़ी प्रसन्नता हुई थी। मायावती से उन्हें क्या अपेक्षा है, उसका यथार्थ आदर्श क्या होना चाहिये – आदि विषयों पर चर्चा करते हुए स्वामीजी भावविभोर हो उठते। श्रीगुरु से प्रेरणा पाकर स्वरूपानन्द भी उद्दीप्त हो उठते। एक निष्ठावान सैनिक के समान उन्होंने स्वामीजी से सविनय कहा था कि वे सर्वदा अपने पूरे मन-प्राण के साथ उनकी परिकल्पना को साकार करने के लिये तैयार रहेंगे।

'प्रबुद्ध भारत' का सम्पादन तथा आश्रम का संचालन – दोनों ही उत्तरदायित्वों का वहन करने में व्यस्तता के बावजूद स्वरूपानन्द का पर-दुख-कातर हृदय कभी शुष्क नहीं हुआ। चारों ओर बसे पहाड़ी लोगों की निर्धनता तथा अशिक्षा को देखकर उनके दुख की सीमा न रहती। उन लोगों के पेट में अन्न नहीं था, पहनने को वस्त्र नहीं थे, बीमार होने पर दवाएँ नहीं थीं – इस दु:सह अवस्था ने विवेकानन्द-शिष्य स्वरूपानन्द को विचलित कर दिया था। गुरुदेव की अनन्त सहृदयता शिष्य के हृदय में भी संचरित हुई थी। वे निर्धन जनता को आवश्यक कृषि-शिक्षा प्रदान करने के विविध उपायों पर विचार करने के बाद, उसे कार्य रूप में परिणत करने में भी उद्योगी हुए थे। मैकोनल साहब की सहायता से उन्होंने पर्वती अंचल में कृषि-विद्या के प्रचार के लिये भी जी-जान से परिश्रम किया था। स्वरूपानन्द के आन्तरिक उद्यम तथा प्रयास से पहाड़ी बालकों की शिक्षा के लिये जंगलाकीर्ण मायावती तथा शोर ग्राम में दो विद्यालय स्थापित हुए थे। मायावती का दातव्य चिकित्सालय की स्थापना भी उन्हीं की एक अन्य स्मरणीय कीर्ति है। आज भी सैकड़ों दुखी-पीड़ित पहाड़ी लोग यहाँ नि:शुल्क चिकित्सा-सेवा प्राप्त करते हैं। उन्होंने आश्रम के विभिन्न कार्यों में नियुक्त पहाड़ी युवकों को हिन्दी तथा अंग्रेजी सिखाने की भी व्यवस्था की थी। दुर्गम पहाड़ी अंचल के निवासियों के साथ सांस्कृतिक विनिमय तथा भावों के आदान-प्रदान हेतु उन्होंने हिमालय में एक बंगाली उपनिवेश की स्थापना का दुरूह कार्य भी हाथों में लिया था। कभी-कभी वे सुदूर नैनीताल, अल्मोड़ा आदि स्थानों में जाकर रहते और पहाड़ी लोगों को विद्या तथा धर्मशिक्षा प्रदान करते।

१८९९ ई. में राजपुताना के किशनगढ़ रियासत में अकाल का प्रकोप फैला। स्वरूपानन्द उस समय तीर्थयात्रा के लिये बाहर निकले थे, पर जयपुर तक आने के बाद उन्होंने अकाल-पीड़ितों की दुरवस्था का समाचार पाकर अपनी पूरी योजना बदल डाली। जयपुर में ही गुरुभाई कल्याणानन्द के साथ भी अप्रत्याशित रूप से भेंट हो जाने से दोनों एक साथ ही किशनगढ़ की ओर चल पड़े। वहाँ वे दोनों अकालग्रस्त दुरवस्था-प्राप्त नारायणों की सेवा में जुट गये और अनाथ बालक-बालिकाओं के लिये एक आश्रम की भी स्थापना की। वहाँ लगभग एक वर्ष तक सेवा-कार्य चला था।

१९०१ ई. में स्वामीजी ने अपने शिष्य कल्याणानन्द को आदेश दिया था कि वे हरिद्वार-ऋषीकेश अंचल में जाकर वहाँ के वृद्ध तथा रोगी साधुओं की सेवा में लग जायँ। अकिंचन संन्यासी ने गुरु का आशीर्वाद शिरोधार्य किया और व्याकुल हृदय के साथ अपने प्रिय गुरुभ्राता स्वरूपानन्द से मिलने मायावती गये। स्वामीजी की इच्छा को सुनकर स्वरूपानन्द में भी प्रेरणा का संचार हुआ और वे कल्याणानन्द को साथ लेकर नैनीताल की ओर चल पड़े। दोनों नैनीताल में डेढ़ महीने तक घर-घर घूमकर भिक्षा माँगते रहे। इस भिक्षालब्ध धन के द्वारा ही १९०१ ई. के जून में हरिद्वार के पास कनखल का सेवाश्रम स्थापित हुआ। इस सेवाश्रम के इतिहास के साथ कल्याणानन्द का नाम चिरकाल के लिये जुड़ा हुआ है, परन्तु इसकी स्थापना के मूल में स्वरूपानन्द का उत्साह, उद्यम तथा प्रेरणा लोक-चक्षुओं के परे रहकर भी एक अविस्मरणीय सत्य है। रामकृष्ण मिशन के द्वारा परिचालित संस्थाओं में कनखल के इस सेवाश्रम का वास्तव में एक गौरवशाली स्थान है।

१९०२ ई. के दिसम्बर में स्वरूपानन्द वेदान्त पर कुछ व्याख्यान देने के लिये लगभग तीन महीनों के लिये इलाहाबाद गये। इन व्याख्यानों से स्थानीय लोग इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के सन्देश के प्रति बड़े आकर्षण का अनुभव किया और वहाँ पर एक स्थायी केन्द्र बनाने के लिये हृदय से प्रयास करने लगे।

❖ (क्रमशः) ❖
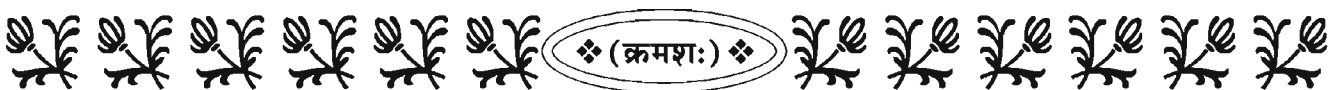
कर्मयोग – एक चिन्तन (११)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

सांख्य के अनुसार ब्रह्माण्ड की हर वस्तु इन तीन गुणों से निर्मित है। ये गुण किसी में कम, तो किसी में अधिक प्रमाण में रहते हैं। किन्तु केवल एक गुण किसी में है, ऐसा नहीं हो सकता। जैसे – 'पेपरवेट' यह तमोगुण में है। इसमें तमोगुण प्रभावशाली है, राजसिक और सात्विक गुण बहुत कम मात्रा में हैं। इस फूल में इस पेपरवेट की तुलना से तमो-गुण कम है, रजोगुण अधिक है, अन्यथा यह फूल खिलता नहीं, इसमें सत्त्वगुण का अत्यल्प अंश है, जिसके कारण सुगंध है। तो सब कुछ इन तीन गुणों का ही खेल है, और इसलिए हम बिना कर्म किये क्षणभर भी नहीं रह सकते।

यहाँ भगवान श्रीकृष्ण कोई सिद्धान्त नहीं बता रहे हैं। बल्कि जो है, जैसा है, उसे ही बता रहे हैं। मैं अगर आपसे कहूँ कि ये प्लेट प्लास्टिक की बनी हुई है, तो यह कोई सिद्धान्त मैं आपको नहीं बता रहा हूँ, केवल एक सूचना दे रहा हूँ कि यह प्लेट प्लास्टिक से बनी है, जो एक सत्य तथ्य है – statement of fact है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के सामने मनुष्य जीवन के तथ्यों को रख रहे हैं। जब मनुष्य स्वयं के स्वभाव को समझकर अपनी रुचि के अनुसार जब साधना का चयन करता है, तभी उसके जीवन में उचित विकास होता है और तभी वह आध्यात्मिक, मानसिक, बौद्धिक और नैतिक जीवन में उन्नत हो सकता है। जो लोग दूसरों के द्वारा सुनकर, किताबों में पढ़कर साधना करते हैं, सोचते हैं कि यह सरल मार्ग है, इसे कर लेना चाहिए, तो ऐसे लोग वहीं के वहीं रह जाते हैं, साधना में कभी विकास नहीं कर पाते। अत: इन तथ्यों को हमें ध्यान से समझकर अपने स्वभाव को जान लेना चाहिये, तब साधना में उन्नति होती है। यह व्यावहारिक है।

एक व्यक्ति को पूरे शरीर में खुजली होती थी। उसने कई वर्षों तक बहुत से डॉक्टरों की दवाई भी ली। किन्तु विशेष लाभ न हुआ। एक अनुभवी डॉक्टर ने उस व्यक्ति से कहा कि इसकी दवाई खुद आपके पास ही है। आपको थोड़ा कष्ट करना पड़ेगा। आप अत्यन्त सावधान होकर दिनभर यह देखें कि खुजली किस समय अधिक होती है? भोजन के समय सावधानी से देखें कि क्या खाने से खुजली बढ़ जाती है और क्या नहीं खाने से खुजली कम रहती है। उस व्यक्ति ने वैसा ही किया और उसकी समझ में आया कि बैंगन खाने से खुजली बढ़ जाती है। उसने बैंगन खाना बंद कर दिया और तीन महिने के भीतर उसकी सारी खुजली बंद हो गयी।

आप और हमको भी अपनी प्रकृति को समझना पड़ेगा। साधना की दृष्टि से लाभ तो होगा ही, जागतिक दृष्टि से इस संसार में रहते हुए भी बहुत लाभ होगा। कैसे?

घर में एक बच्चा बहुत उधम मचाता है। दूसरा बच्चा चुपचाप बैठा रहता है। माँ उस बच्चे को घर से बाहर जाकर खेलने के लिए पीछे लगी रहती है। तो दोनों तरफ से माँ परेशान है। गीता के इसी तथ्य को अगर हम पकड़ लें, तो हमको समझ में आयेगा कि मेरे बड़े बच्चे में राजसिकता अधिक है, इसलिये वह उधम मचाता है, चुपचाप बैठ नहीं सकता और दूसरा बच्चा चुपचाप है, तो इस धोखे में न रहें कि वह सत्त्व-प्रधान है। अरे वह बच्चा तो तमस-प्रधान है। आप उस तमस प्रधान बच्चे को दस काम में लगाइये। तब उसकी तामसिकता कम होगी। जो उधम मचाता है, उसको बैठाकर कुछ काम दीजिए, उससे उसकी राजसिकता उस ओर चली जायेगी। साधना बहुत दूर की बात है। व्यावहारिक दृष्टि से भी अगर हम अपनी प्रकृति को समझ लें, तो यहाँ संसार में भी बड़ी सुविधा हो जाती है।

दूसरी बात है कि हमें कर्म करते समय, साधना करते समय अपने स्वभाव आदि का निरीक्षण भी करते रहना चाहिये। भगवान साधना के संबंध में एक बात कह रहे हैं, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और वैज्ञानिक है। प्रत्येक साधक को यह बात समझकर हृदयंगम करना चाहिए।

गीता के तीसरे अध्याय का छठवाँ श्लोक है –

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन।
इन्द्रियार्थान्विमूढ़ात्मा मिथ्याचार: स उच्यते ।।

इस श्लोक को फ्रायड ने ठीक तरह से समझा नहीं। उनको भारतीय दर्शन, संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं था। यदि उन्होंने भारतीय दर्शन पढ़ा होता और उन्हें संस्कृत का ज्ञान होता, तो उनसे यह भूल नहीं होती। उन्हें Unconsious mind को खोजने का पितामह कहा जाता है। उनसे भूल हो गयी, जो भगवान कृष्ण से नहीं हुई। फ्रायड कहते हैं –

मन में जो गाठें होती हैं, वे दमन के कारण होती हैं – Supression is the cause of complexes in human mind & that causes innumerable desires.

फ्रायड कहते हैं कि अपनी वासना और इच्छाओं को

दबा देने के कारण हमें अनेकों रोग होते हैं। आज के डॉक्टर भी ये कहते हैं कि ९०% रोग इसी कारण से होते हैं।

लेकिन इस संबंध में भगवान क्या कहते हैं? वे कहते हैं कि कर्मेंद्रियों को बलपूर्वक रोककर जो व्यक्ति मन से उन भोगों का चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी है – कर्मेन्द्रियाणि ... उच्यते। ऐसा व्यक्ति विशेषरूप से विमूढ़ है, मूर्ख है, उसे मिथ्याचारी कहा जाता है। साधना की दृष्टि से यह समझ लेने जैसी बात है। किसी भी साधक को आध्यात्मिक साधना करनी हो या नैतिक विकास करना हो, तो आत्मनिरीक्षण का अभ्यास अवश्य करना पड़ेगा। बिना आत्मनिरीक्षण किये आध्यात्मिक या नैतिक साधना नहीं हो सकती। आत्मनिरीक्षण करके क्या देखना पड़ेगा? जैसे हमें पकौड़ा खाने की इच्छा है, किन्तु हमने बलपूर्वक पकौड़ा नहीं खाने का निश्चय किया। तब हम क्या करेंगे? दूसरे से जाकर पूछेंगे, क्यों भाई, कैसा था ये पकौड़ा ! ऐसा कैसे होता है? क्योंकि हमने शरीर को रोका है, किन्तु मन से तो उसका स्वाद ले रहे हैं। इसलिये वह व्यक्ति विमूढ़-आत्मा है, मिथ्याचारी है। मूढ़ उसको कहते हैं, जो जानकार भी समझने को तैयार नहीं है, कुछ मानने को तैयार नहीं है।

दूसरा विश्लेषण भगवान लगाते हैं – मिथ्याचार स उच्यते। उस व्यक्ति को मिथ्याचारी कहते हैं। मिथ्या माने असत्य नहीं होता है। जैसे हम कहें कि 'घोड़े की सिंग'। किसी काल में घोड़े की सिंग नहीं होती है। यह असत्य है। मिथ्या क्या है? अनित्य और जो जैसा दिखता है, वैसा नहीं है, उसे मिथ्या कहते हैं। वेदान्त की भाषा में उसे माया कहते हैं। वेदान्त की दृष्टि से यह मिथ्या आचरण हुआ। बाहर से तो हमने छोड़ दिया, पर मन में उसका लोभ है, उसका चिन्तन है। ये ग्लास अभी है, गिर जायेगा तो फूट जायेगा। तो यह ग्लास असत्य नहीं है। जो अनित्य है, वह मिथ्या है। ऐसा झूठा आचरण करने वाला व्यक्ति मिथ्याचारी है। मूढ़ता के कारण मैं समझ रहा हूँ कि इंद्रियों को रोककर मैं संयमी हो गया हूँ। करोड़ों लोगों से यह भूल होती है। कुछ धार्मिक लोग तो ऐसे थे कि कोड़े मार-मारकर शरीर को घायल कर देते थे कि क्यों मेरे मन में क्रोध आया? क्यों मेरे मन में भोजन के प्रति लोभ आया? अभी भी ऐसे कुछ लोग हैं, धर्म हैं, जो पारम्परिक अनुष्ठानों को अधिक महत्त्व देते हैं, चौबीसों घण्टे इसी चिन्ता में लगे रहते हैं कि हमने फैसला किया है कि उसी घर से भिक्षा लेंगे, जिस घर के सामने एक गाय अपने बछड़े को दूध पिला रही है और इसकी घोषणा कर देते हैं। उसके बाद जिसके घर गाय होती है, वहाँ जाकर गृहस्थ कहता है, भाई मेरे घर के सामने तू गाय और बछड़े को बाँध देना और उसी समय बछड़े को दूध पीने के लिये छोड़ना, जब कोई संन्यासी भिक्षा लेने के लिये आये। तब जो भिक्षा के लिए संन्यासी जा रहे हैं, उनके प्रति आपका श्रद्धा-भाव बढ़ जाता है और लोग अपने घर में उनका फोटो भी लगाने को सोचने लगते हैं। यह घटना असत्य तो नहीं है, किन्तु मिथ्याचार है। भीतर से मुझे और उन्हें मालूम है, फिर भी ऐसी शर्त लगा देते हैं। इसे कहते हैं मिथ्याचार।

अर्जुन तू साधना करना चाहता है, बड़ी-बड़ी बातें करता है, तो यह जानकर रख की मिथ्याचार क्या है? कर्मेन्द्रियों को बलपूर्वक रोककर, जो विषयों का चिन्तन करता है, वह – विमूढ़ात्मा और मिथ्याचारी है। इसे स्वयं आप को छोड़ कर दूसरा कोई नहीं बता सकता कि आपके मन में क्या है?

भगवान ने ये लक्षण बताये हैं। हम संसार में किसी भी वस्तु को लक्षणों से जानते हैं। जैसे हमें किसी को घर का पता बताना हो, तो घर आने के लिए सड़क पर जो बड़ी और महत्वपूर्ण भवन है, कोई दूकान है, कोई निशान है, तो उसे हम बताते हैं। हमको सारे ज्ञान लक्षणों से होते हैं। भगवान कृष्ण ने हमें ये बातें इसलिए बतायी हैं कि हम इन बातों को जानकर देखें कि हमारे भीतर कुछ ऐसे लक्षण हैं या नहीं।

यदि हम मिथ्याचारी हैं, विमूढ़ हैं, तो क्या अब हम इससे मुक्त होना चाहते हैं? क्या हमें इससे दुख होता है? अगर हमें दु:ख नहीं होता है, तो हमें अपने में सुधार का समय नहीं आया है। यदि उसमें डूब कर हम कष्ट पाते हैं और बाद में ऐसा लगता है कि हमें इस प्रवृत्ति को छोड़ना चाहिये, हमें अपने को बदलना चाहिए, हमें अच्छे व्यवहार करना चाहिए, तब हमें उपाय सुझेगा।

इसके दो उपाय हैं – एक सकारात्मक और दूसरा नकारात्मक। संसार में जो सामान्य उपाय दिखता है। जैसे मैं कॉफी नहीं पीता। पर अब दूसरे लोग कॉफी पी रहे हैं, तो मुझे भी लगता है कि कॉफी पीना चाहिए। वर्षों हमने बहुत कॉफी पी ली। अब बीस साल बाद मुझे समझ में आया कि मेरे शरीर के लिये कॉफी पीना अच्छा नहीं है, तो मैं कॉफी पीना बंद कर देता हूँ। स्वामीजी ने कहा है कि संसार का प्रत्येक प्राणी एक दिन अवश्य मुक्त होगा। कोई भी सतत बंधन में नहीं रहना चाहता। मनुष्य एक-न-एक दिन मुक्त होगा ही।

❖ (क्रमशः) ❖

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२२८. धन-दौलत का मोह न कीजै

दक्षिण भारत में पट्टिनाथ नामक एक प्रसिद्ध सन्त हो गये हैं। पहले वह व्यापारी थे, किन्तु बड़े लोभी तथा कंजूस थे। उनका सारा ध्यान अपनी पूंजी की वृद्धि करने में लगा रहता था। गृह-खर्च और शरीर के पोषण पर भी वे ज्यादा व्यय नहीं करते थे। तथापि वे शिवजी के बड़े भक्त थे। पूजा समाप्त होने पर वे अपने इष्टदेव की प्रतिदिन प्रार्थना करते थे कि उन्हें व्यापार में उन्नति हो और उनकी पूंजी हमेशा बढ़ती रहे। शिवजी की कृपा से उनके पास विपुल मात्रा में धन एकत्र हो गया था, तो भी वे सन्तुष्ट न थे।

एक दिन जब उन्होंने नित्य की भाँति पूजा समाप्त करके भगवान महादेव से बहुत-सा धन देने की प्रार्थना की, तो शिवजी एक बालक का रूप धारणकर वहाँ आए और पूजन-सामग्री के पास ही एक गठरी रखकर अन्तर्धान हो गये। पट्टिनाथ ने आँखें खोलीं, तो उन्हें वह गठरी दिखाई दी। उन्होंने सोचा – भगवान ने उनकी प्रार्थना सुन ली है और उन्हें धन तथा आभूषणों की गठरी दी है। मगर जब उन्होंने गठरी खोली, तो उसमें उन्हें एक पेटी में केवल सूइयाँ भरी हुई दिखाई दीं। आश्चर्य की बात यह भी थी कि उन सूइयों में से किसी की भी आँख (धागा डालने हेतु छेद) न थी – सारी सूइयाँ कानी थीं। साथ में एक कागज का टुकड़ा भी मिला, जिसमें लिखा था, ''यह संसार नश्वर है। जब तुम्हारी मृत्यु होगी, तो तुम्हारा सारा धन, सोने-चाँदी के सारे आभूषण यहीं धरे रह जायेंगे। जैसे इन सूइयों की आँख न होने से इनकी कोई उपयोगिता नहीं है, वैसे ही तुम्हारी मृत्यु के बाद इस धन तथा आभूषणों का तुम्हारे लिये कोई उपयोग नहीं होगा।'' पट्टिनाथ ने जब गहन विचार किया, तो यह बात उनके ध्यान में आ गई कि वे व्यर्थ ही धन को जमा करने में लगे हैं, जबकि वे उसका उपभोग तो कर ही नहीं सकेंगे। उन्हें आत्मग्लानि हुई और उन्होंने अपनी सारी दौलत गरीबों को बाँट दी। इस असार संसार से उन्हें विरक्ति हो गयी और वे संन्यास लेकर पूरी तौर से साधना में डूब गये।

धन-सम्पत्ति मनुष्य को अन्धा बना देती है। वह बहुत समय तक व्यक्ति के पास नहीं रह सकती, तो भी वह उसमें आसक्त रहता है तथा और अधिक पाने को लालायित रहता है। त्यागभाव ही मनुष्य को भवसिंधु से तारता है।

२२९. लगे दूर के ढोल सुहाने

अरबी, फारसी और उर्दू भाषाओं के विद्वान डॉ. सैय्यद महमूद ने अपना ज्ञान बढ़ाने के लिए जर्मन भाषा सीखने का निश्चय किया। उन्होंने जर्मनी के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में दाखिला लिया और बड़े ही चाव से इस नई भाषा का अध्ययन करने लगे। जर्मन भाषा में उनकी अत्यधिक रुचि देखकर एक दिन उनके प्राध्यापक स्मिथ साहब ने उनसे कहा, ''गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग का जो उपदेश दिया है, क्या आप उसे विस्तार से बताने का कष्ट करेंगे?'' डॉ. महमूद ने उत्तर दिया, ''क्षमा करें, मेरा धर्म इस्लाम है और गीता हिन्दुओं की पवित्र पुस्तक है। फिर वह संस्कृत में लिखी हुई है और संस्कृत मुझे आती नहीं, इस कारण मैं उसे कैसे पढ़ सकता था? कृष्ण के कर्मयोग के बारे में कुछ भी बता पाना मेरे लिए सम्भव नहीं है।''

डाक्टर स्मिथ बोले, ''माना कि गीता संस्कृत में लिखी हुई है, पर उसका तो हर भाषा में अनुवाद हुआ है। आप उसका हिन्दी भावार्थ तो पढ़ ही सकते थे। क्या संस्कृत आपके देश की भाषा नहीं है? क्या उसे सीखने की आपको कभी भी इच्छा नहीं हुई? मुझे इस बात पर ताज्जुब हो रहा है कि आप अपने देश की भाषा को छोड़ हजारों मील दूर की भाषा सीखने इस देश में आए हैं। मैं तो समझता था कि गीता को हर हिन्दुस्तानी अपना पवित्र ग्रन्थ मानता है। इसी कारण मैंने सोचा कि आपने उसे जरूर पढ़ा होगा, इसीलिये मैंने आपसे कर्मयोग के बारे में प्रश्न किया था।''

डॉ. महमूद ने सुना, तो पानी-पानी हो गये। उन्होंने कहा – ''गीता को पढ़ने के बारे में मेरे मन में कभी भी विचार ही नहीं आया, इसके लिये मैं शर्मिंदगी महसूस करता हूँ। दूसरे धर्म का ग्रन्थ होते हुए भी वह मेरे अपने देश का होने की बताकर आपने मेरे दिल में देशप्रेम की भावना जाग्रत कर दी है। मैं अपनी भूल स्वीकार करता हूँ कि गीता को मैंने कभी अपने देश की धरोहर भी नहीं समझा। मैं आपको वचन देता हूँ कि अपने देश में जाकर मैं गीता ही नहीं, संस्कृत में लिखे अन्य उत्कृष्ट ग्रन्थों में भी निहित ज्ञान का अर्जन करूँगा।'' प्राय: व्यक्ति अपने पास की चीज का महत्त्व नहीं समझता।

कठोपनिषद्-भाष्य (२३)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत ।।
एतद्वै तत् ।।२/१/७।। (७८)

अन्वयार्थ – **या** जो **देवतामयी** सर्व देवतामयी **अदितिः** अदिति (शब्द आदि द्वारा भक्षण करनेवाली) **प्राणेन** हिरण्यगर्भ के रूप में **सम्भवति** उत्पन्न होती है, **या** जो **भूतेभिः** समस्त प्राणियों से युक्त होकर **व्यजायत** उत्पन्न हुई हैं, (उन्हीं) **गुहाम् प्रविश्य तिष्ठन्तीम्** हृदयाकाश में प्रवेश करके वहाँ अवस्थित अदिति का (जो दर्शन करते हैं, वे) **एतद्वै तत्** इस ब्रह्म का ही दर्शन करते हैं।

भावार्थ – जो सर्व देवतामयी अदिति (शब्द आदि द्वारा भक्षण करनेवाली) हिरण्यगर्भ के रूप में उत्पन्न होती है, जो समस्त प्राणियों से युक्त होकर उत्पन्न हुई हैं, (उन्हीं) हृदयाकाश में प्रवेश करके वहाँ अवस्थित अदिति का (जो दर्शन करते हैं, वे) इस ब्रह्म का ही दर्शन करते हैं।।

भाष्यम् – या सर्व-देवतामयी सर्व-देवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भ-रूपेण परस्मात् ब्रह्मणः सम्भवति शब्दादीनाम् अदनात् अदितिः तां पूर्ववद् गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीम् अदितिम् । ताम् एव विशिनष्टि – या भूतेभिः भूतैः समन्विता व्यजायत उत्पन्ना इत्येतत् ।। ७ ।।

भाष्य-अनुवाद – इसके अतिरिक्त, जो शब्द आदि का आस्वादन करने के कारण अदिति कहलाती है, जो सर्व देवतामयी है अर्थात् जिसमें सारे देवता निहित हैं और जो परब्रह्म से हिरण्यगर्भ के रूप में उत्पन्न होती है, वह बुद्धि रूपी गुफा में प्रविष्ट होकर स्थित रहती है, उस अदिति को जो देखता है आदि पूर्ववत्। उसी अदिति की यहाँ विशेषता बताते हैं कि उसने भूतों के साथ समन्वित होकर जन्म लिया अर्थात् उत्पन्न हुई। यही वह तत्त्व है, जिसे तुमने पूछा था।

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ।।
एतद्वै तत् ।।२/१/८।। (७९)

अन्वयार्थ – **गर्भिणीभिः** गर्भिणी नारियों द्वारा **गर्भः इव** गर्भ को सुरक्षित रखने के समान **अरण्योः** (अग्नि जलाने हेतु उपयोग में आनेवाली) दोनों अरणियों के बीच **निहितः** अवस्थित, सुरक्षित **जातवेदाः** जातवेदा नामक **अग्निः** यज्ञ की अग्नि या हृदय में स्थित विराट्-रूपी अग्नि **सुभृतः** (ऋत्विकों या योगियों द्वारा) उत्तम रूप से रक्षित की जाती है (और जो) **जागृवद्भिः** जागरूक, सावधान **हविष्मद्भिः** हवन-सामग्री तथा ध्यान आदि से युक्त **मनुष्येभिः** मनुष्यों (योगियों तथा कर्मियों) द्वारा **दिवे दिवे ईड्यः** प्रतिदिन सेवित होता है, **एतत् वै तत्** वह यज्ञ की या विराट्-रूपी अग्नि भी वही ब्रह्म है।

भावार्थ – गर्भिणी नारियों द्वारा गर्भ को सुरक्षित रखने के समान (अग्नि जलाने हेतु उपयोग में आनेवाली) दोनों अरणियों के बीच अवस्थित, सुरक्षित जातवेदा नामक यज्ञ की अग्नि या हृदय में स्थित विराट्-रूपी अग्नि (ऋत्विकों या योगियों द्वारा) उत्तम रूप से रक्षित की जाती है (और जो) जागरूक, हवन-सामग्री तथा ध्यान आदि से युक्त मनुष्यों (योगियों तथा कर्मियों) द्वारा प्रतिदिन सेवित होती है, वह यज्ञ की या विराट्-रूपी अग्नि भी वही ब्रह्म है।

भाष्यम् – यः अधियज्ञे उत्तर-अधर-अरण्योः निहितो स्थितः जातवेदा अग्निः पुनः सर्वहविषां भोक्ता, अध्यात्मं च योगिभिः गर्भ इव गर्भिणीभिः अन्तर्वत्नीभिः अगर्हित-अन्न-पान-भोजन-आदिना यथा गर्भः सुभृतः सुष्ठु सम्यग्भृतो लोक इव इत्थम् एव तु ऋत्विग्भिः योगिभिः च सुभृतः इत्येत् ।

भाष्य-अनुवाद – जो अग्नि ऊपर तथा नीचे की अरणियों (काष्ठों) में जातवेदा (देवता) के रूप में स्थित रहती है और यज्ञ में प्रदत्त समस्त वस्तुओं का भोक्ता है; वही योगियों के अध्यात्म अर्थात् हृदय में विराट्-अग्नि के रूप में स्थित है; और जैसे जगत् में गर्भवती स्त्रियाँ शुद्ध अन्न-जल-भोजनादि के द्वारा अपने गर्भस्थ शिशु की रक्षा करती हैं, वैसे ही ऋत्विक तथा योगीगण उस अग्नि की सम्यक् रूप से रक्षा करते हैं।

किं च दिवे दिवे अहनि अहनि ईड्यः स्तुत्यो वन्द्यश्च कर्मिभिः योगिभिः च अध्वरे हृदये च जागृवद्भिः जागरण-शीलवद्भिः अप्रमत्तैः इति एतत् हविष्मद्भिः आज्यादिमद्भिः ध्यान-भावनावद्भिः च मनुष्येभिः मनुष्यैः अग्निः । एतद्वै तत् तदेव प्रकृतं ब्रह्म ।। २/१/८ (७९) ।।

साथ ही, यह अग्नि जो जागरणशील तथा अप्रमत्त यज्ञकर्ताओं तथा योगियों के द्वारा यज्ञकुण्ड तथा हृदय में आहुति देनेवालों तथा ध्यान-परायणों के लिये प्रतिदिन स्तुत्य तथा वन्दनीय

है, यही वह ब्रह्म है, जिस पर हम विचार कर रहे हैं।

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ।।
एतद्वै तत् ।। २/१/९ (८०)

अन्वयार्थ – **यतः** जिस प्राणात्मक हिरण्यगर्भ से **सूर्यः** सूर्य **उदेति** उदित होता है **यत्र च** और (प्रलय के समय) जिसमें **अस्तम् गच्छति** जाकर अस्त हो जाता है, **तम्** उसी में **सर्वे** समस्त **देवाः** देवतागण **अर्पिताः** अर्पित होकर स्थित हैं, **तत्** उसे **कः चन** कोई भी **न उ अत्येति** पार नहीं कर सकता, **एतद्वै तत्** यही वह सर्वात्मक ब्रह्म है ।।

भावार्थ – जिस प्राणात्मक हिरण्यगर्भ से सूर्य उदित होता है और (प्रलय के समय) जिसमें जाकर अस्त हो जाता है, उन्हीं में समस्त देवतागण अर्पित होकर स्थित हैं, उसे कोई भी पार नहीं कर सकता, यही वह सर्वात्मक ब्रह्म है ।।

भाष्यम् – यतश्च यस्मात् प्राणात् उदेति उत्तिष्ठति सूर्यो अस्तं निम्लोचनं यत्र यस्मिन् एव च प्राणे अहनि अहनि गच्छति तं प्राणमात्मानं देवाः अग्नि-आदयः अधिदैवं वाक्-आदयः च अध्यात्मं सर्वे विश्वे अरा इव रथनाभौ अर्पिताः संप्रवेशिताः स्थिति काले सः अपि ब्रह्म एव । तत् एतत् सर्वात्मकं ब्रह्म । तदु न अत्येति न अतीत्य तत् आत्मकतां तत् अन्यत्वं गच्छति कश्चन कश्चित् अपि । एतद्वै तत् ।।९।।

भाष्य-अनुवाद – जिस प्राण (हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा) से प्रतिदिन सूर्य उदय होता है और जिस प्राण में अस्त हो जाता है; उसी प्राण अर्थात् सूत्रात्मा में, (सृष्टि की) स्थिति के समय अधिदैव के रूप में अग्नि आदि देवता और अध्यात्म के रूप में वाक् आदि इन्द्रियाँ – सभी रथ की नाभि में अरों के समान प्रविष्ट रहती हैं, वह (प्राण) भी ब्रह्म है। यही वह सर्वात्मक ब्रह्म है, कोई भी जिसके परे नहीं जा सकता अर्थात् कोई भी उसके स्वरूप को पार करके, उससे भिन्नता को प्राप्त नहीं कर सकता। यही तुम्हारा वह जिज्ञासित ब्रह्म है।

* * *

यत् ब्रह्मा-आदि-स्थावरान्तेषु वर्तमानं तत् तत् उपाधि-त्वात् अब्रह्मवत् अवभासमानं संसारि-अन्यत् परस्माद् ब्रह्मणः इति मा भूत् कस्यचित् आशङ्का इति इदम् आह –

जो तत्त्व – ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त सबमें विद्यमान है और उन-उन (देह) उपाधियों (से युक्त होने) के कारण अब्रह्म जैसा प्रतीत होता है, वह परब्रह्म से भिन्न कोई अन्य संसारी जीव है, किसी को ऐसी आशंका न हो अत: कहते हैं –

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।।
२/१/१० (८१)

अन्वयार्थ – **यत् एव** जो कुछ भी **इह** इस लोक में (शरीर, इन्द्रियों आदि से युक्त तथा संसार के रूप में) प्रतिभात होता है, **तत्** वही **अमुत्र** वहाँ (संसार-गुण-धर्म-वर्जित विज्ञानघन ब्रह्म) है; **यत् अमुत्र** जो वहाँ है, **इह तत् अनु** यहाँ भी वही, उपाधियों के अनुसार विविध रूपों में विभासित होता है; **यः** जो व्यक्ति **इह** इस ब्रह्म को **नाना इव** नानात्व की भाँति **पश्यति** बोध करता है, **सः** वह **मृत्योः** मृत्यु के बाद **मृत्युम्** मृत्यु को **आप्नोति** प्राप्त करता है (अर्थात् मृत्यु के चक्र में पड़कर बारम्बार आवागमन करता है) ।।

भावार्थ–जो कुछ भी इस लोक में (शरीर, इन्द्रियों आदि से युक्त तथा संसार के रूप में) प्रतिभात होता है, वही वहाँ (संसार-गुण-धर्म-वर्जित विज्ञानघन ब्रह्म) है; जो वहाँ है, यहाँ भी वही, उपाधियों के अनुसार विविध रूपों में विभासित होता है; जो व्यक्ति इस ब्रह्म को नानात्व की भाँति बोध करता है, वह मृत्यु के बाद मृत्यु को प्राप्त करता है (अर्थात् मृत्यु के चक्र में पड़कर बारम्बार आवागमन करता है) ।।

भाष्यम् – यत् एव इह कार्य-करण-उपाधि-समन्वितं संसार-धर्मवत् अवभासमानम् अविवेकिनां तत् एव स्व-आत्मस्थम् अमुत्र नित्य-विज्ञानघन-स्वभावं सर्व-संसार-धर्म-वर्जितं ब्रह्म ।

भाष्य-अनुवाद – जो कार्य (देह) तथा करण (इन्द्रियों) उपाधियों से युक्त होकर अविवेकियों के लिये संसारी-गुणवाला प्रतीत होता है, वही स्वयं में स्थित नित्य-विज्ञानघन-स्वरूप समस्त सांसारिक गुणों से अतीत परब्रह्म है।

यत् च अमुत्र-अमुष्मिन् आत्मनि स्थितं तत् एव इह नाम-रूप-कार्य-करण-उपाधिम् अनुविभाव्यमानं नान्यत् ।

फिर जो चैतन्यस्वरूप आत्मा में स्थित है; वही नाम, रूप, देह, इन्द्रियों की उपाधियों से युक्त होकर विविध रूपों में भासित होता है; उससे भिन्न कुछ अन्य नहीं।

तत्र एवं सति उपाधि-स्वभाव-भेददृष्टि-लक्षणया अविद्यया मोहितः सन् य इह ब्रह्मणि अनानाभूते परस्मात् अन्यो अहं मत्तः अन्यत् परं ब्रह्म इति नानेव भिन्नम् इव पश्यति उपलभते सः मृत्योः मरणात् मरणं मृत्युं पुनः पुनः जन्म-मरणभावम् आप्नोति प्रतिपद्यते । तस्मात् तथा न पश्येत् । विज्ञान-एकरसं नैरन्तर्येण आकाशवत् परिपूर्णं ब्रह्म एव अहम् अस्मि इति पश्येत् इति वाक्यार्थः ।। १० (८१)।।

ऐसा होने से, जो व्यक्ति उपाधियों के आधार पर भेददृष्टि रखते हुए अविद्या द्वारा मोहित (भ्रान्त) होकर, अ-नाना-रूप परब्रह्म में – 'मैं उससे भिन्न हूँ और परब्रह्म मुझसे भिन्न है' – मानो इस प्रकार भेद है – ऐसा देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु अर्थात् बारम्बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त करता है। अतएव वैसा नहीं देखना चाहिये। व्यक्ति को ऐसा देखना चाहिये कि 'अखण्ड एकरस ज्ञानस्वरूप आकाशवत् परिपूर्ण ब्रह्म ही मैं हूँ' – इस वाक्य का यही तात्पर्य है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

अयोऽग्नियोगादिव सत्समन्वया-
न्मात्रादिरूपेण विजृम्भते धीः ।
तत्कार्यमेतद्द्वितयं यतो मृषा
दृष्टं भ्रमस्वप्नमनोरथेषु।।३४९।।

अन्वय – अग्नियोगात् अयः इव धीः सत्-समन्वयात् मातृ-आदि-रूपेण विजृम्भते। तत्-कार्यं एतद् द्वितयं भ्रम-स्वप्न-मनोरथेषु यतः मृषा दृष्टम् ।

अर्थ – जैसे अग्नि के सम्पर्क से लौहखण्ड गरम तथा लाल प्रतीत होता है, वैसे ही सत्-वस्तु के योग से बुद्धि भी प्रमाता (ज्ञाता आदि) के रूप में प्रकाशित होती है। उसके कार्यरूप (ज्ञाता तथा ज्ञान) दोनों ही भ्रम, स्वप्न व मनोरथ के रूप में मिथ्या ही देखने में आते हैं।

ततो विकाराः प्रकृतेरहंमुखा
देहावसाना विषयाश्च सर्वे ।
क्षणेऽन्यथाभावितया ह्यमीषा-
मसत्त्वमात्मा तु कदापि नान्यथा ।।३५०।।

अन्वय – ततः अहंमुखाः देहावसानाः सर्वे विषयाः च प्रकृतेः विकाराः, क्षणे अन्यथा-भावितया हि अमीषां हि असत्त्वं तु आत्मा कदा अपि अन्यथा न ।

अर्थ – अतः अहंकार से लेकर देह-पर्यन्त – (बुद्धि द्वारा) अनुभव में आनेवाले सारे विषय प्रकृति के विकार हैं। ये सभी प्रति क्षण अन्य भाव को प्राप्त होते रहने के कारण मिथ्या हैं, परन्तु आत्मा में कभी परिवर्तन नहीं आता।

नित्याद्वयाखण्डचिदेकरूपो
बुद्ध्यादिसाक्षी सदसद्विलक्षणः ।
अहंपदप्रत्ययलक्षितार्थः
प्रत्यक् सदानन्दघनः परात्मा ।।३५१।।

अन्वय – परात्मा नित्य-अद्वय-अखण्ड-चिदेक-रूपो बुद्धि-आदि-साक्षी सद्-असद्-विलक्षणः अहं-पद-प्रत्यय-लक्षितार्थः प्रत्यक् सदानन्द-घनः ।

अर्थ – परम आत्मा – अपने यथार्थ स्वरूप से नित्य, एक, अद्वय, अखण्ड, चैतन्य, एकरूप, बुद्धि आदि का साक्षी, स्थूल तथा सूक्ष्म से भिन्न, 'अहम्' (मैं) शब्द का लक्षितार्थ और (प्रत्येक वस्तु के) अन्तर में निहित चिर-आनन्द-घन-स्वरूप है।

इत्थं विपश्चित्सदसद्विभज्य
निश्चित्य तत्त्वं निजबोधदृष्ट्या
ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डबोधं
तेभ्यो विमुक्तः स्वयमेव शाम्यति ।।३५२।।

अन्वय – विपश्चित् इत्थं सद्-असद् विभज्य, निज-बोध-दृष्ट्या तत्त्वं निश्चित्य, स्वं आत्मानं अखण्ड-बोधं ज्ञात्वा, तेभ्यः विमुक्तः स्वयम् एव शाम्यति ।

अर्थ – विवेकी व्यक्ति इस प्रकार सत् (चैतन्य-आत्मा) और असत् (जड़-अनात्मा) का विभाजन करके, अपनी ज्ञानदृष्टि द्वारा यथार्थ तत्त्व का निश्चय करने के बाद, अपनी आत्मा को अखण्ड ज्ञान-स्वरूप जानकर, उन (आवरण, विक्षेप तथा दुःखों) से मुक्त होकर सहज शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

अज्ञानहृदयग्रन्थेर्निःशेषविलयस्तदा
समाधिनाऽविकल्पेन यदाऽद्वैतात्मदर्शनम् ।।३५३।।

अन्वय – यदा अविकल्पेन समाधिना अद्वैत-आत्म-दर्शनं तदा अज्ञान-हृदय-ग्रन्थेः निःशेष-विलयः ।

अर्थ – जब निर्विकल्प समाधि के द्वारा अद्वय (एकमेवाद्वितीय) आत्मा का दर्शन होता है, तब हृदय में पड़ी हुई अज्ञान की गाठ (चिज्जड़ ग्रन्थि) का पूरी तौर से नाश हो जाता है।

त्वमहमिदमितीयं कल्पना बुद्धिदोषात्
प्रभवति परमात्मन्यद्वये निर्विशेषे ।
प्रविलसति समाधावस्य सर्वो विकल्पो
विलयनमुपगच्छेद्वस्तुतत्त्वावधृत्या ।।३५४।।

अन्वय – त्वं, अहं, इदं इति इयं कल्पना बुद्धिदोषात् प्रभवति। निर्विशेषे अद्वये परमात्मनि समाधौ प्रविलसति। वस्तु-तत्त्वावधृत्या अस्य सर्वः विकल्पः विलयनं उपगच्छेत् ।

अर्थ – 'तू', 'मैं', 'यह' – ऐसी कल्पना बुद्धि के दोष से उत्पन्न होती है। निर्विशेष, अद्वय, परमात्मा, समाधि की उपलब्धि होने पर ब्रह्मतत्त्व की ठीक-ठीक अवधारणा हो जाने से व्यक्ति का सारा विकल्प (नानात्व-बोध) नष्ट हो जाता है।

शान्तो दान्तः परमुपरतः क्षान्तियुक्तः समाधिं
कुर्वन्नित्यं कलयति यतिः स्वस्य सर्वात्मभावम् ।
तेनाविद्यातिमिरजनितान्साधु दग्ध्वा विकल्पान्
ब्रह्माकृत्या निवसति सुखं निष्क्रियो निर्विकल्पः।।३५५

अन्वय – शान्तः दान्तः परम् उपरतः क्षान्तियुक्तः यतिः समाधिं कुर्वन् स्वस्य सर्वात्म-भावं नित्यं कलयति। तेन अविद्या-तिमिर-जनितान् विकल्पान् साधु दग्ध्वा ब्रह्म-आकृत्या निष्क्रियः निर्विकल्पः सुखं निवसति ।

अर्थ – शान्त मनवाला, इन्द्रियों को दमित रखनेवाला, विषयों से पूर्णतः विरत, क्षमाशील (सहिष्णु) यति (साधक) – समाधि में स्थित होकर, निरन्तर सर्वात्म-भाव का अभ्यास करता है (सभी प्राणियों तथा वस्तुओं को अपनी ही आत्मा जानता है)। इस चिन्तन के द्वारा अविद्या (माया) के अन्धकार से उत्पन्न सभी विकल्पों (मिथ्या कल्पनाओं) को सहज ही दग्ध करके, वह ब्रह्माकार वृत्ति द्वारा निष्क्रिय तथा निर्विकल्प अवस्था में स्थित होकर सुखपूर्वक निवास करता है।

❖ (क्रमशः) ❖

भक्त सम्मेलन का आयोजन

श्रीरामकृष्ण की १७७ वीं जन्मतिथि महोत्सव के उपलक्ष्य में श्रीरामकृष्ण सेवा समिति, चंद्रपुर (महाराष्ट्र) ने १९ फरवरी, २०१२ को आध्यात्मिक शिविर का आयोजन किया। श्रीरामकृष्ण सारदा मिशन, कामठी की प्रव्राजिका स्वतंत्रप्राणा ने भक्तों का मार्गदर्शन किया। २३ फरवरी को नि:शुल्क जाँच शिविर में ४२ रोगियों का मधुमेह जाँच किया गया। उसी दिन मातोश्री वृद्धाश्रम में सबको नाश्ता और फल वितरित किये गये तथा ठाकुर उत्सव में पूजा, संगीत आदि कार्यक्रम हुये, जिसमें ५५० नर-नारायणों को महाप्रसाद वितरित किया गया।

विवेकानन्द जयन्ती मनायी गयी

रामकृष्ण विवेकानन्द सेवा संस्थान, गीता आश्रम, जैसलमेर (राजस्थान) द्वारा १२ जनवरी, २०१२ को विवेकानन्द जयन्ती मनायी गयी। श्री लीलाधर केला ने श्रीरामकृष्ण-वचनामृत का पाठ तथा श्रीराम-सहस्रनाम का संकीर्तन किया। संस्थान के सचिव श्री जगदीश चन्द्र पुरोहित, श्री राहुल व्यास, डॉ. श्री बालकृष्ण जगाड़ी, साहित्यकार दीनदयाल ओझा, और मिठाईलाल व्यासजी ने सभा को सम्बोधित किया। जैसलमेर के उच्च माध्यमिक विद्यालयों में 'स्वामी विवेकानन्द आज के परिप्रेक्ष्य में' नामक विषय पर निबन्ध प्रतियोगिता आयोजित की गयी एवं प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान पानेवालों को पुरस्कार दिया गया।

राज्यस्तरीय सर्वधर्म-समन्वय सम्मेलन का आयोजन

रामकृष्ण मिशन आश्रम, मोराबादी, राँची, (झारखंड) में १० एवं ११ मार्च को 'विश्व बन्धुत्व और एकत्व प्रत्येक धर्म का लक्ष्य', 'मानव सेवोन्मुखी यथार्थ शिक्षा', तथा 'राष्ट्रीय एकता, शान्ति एवं समृद्धि में धर्म की भूमिका' आदि विषयों पर राज्यस्तरीय सेमिनार का उद्घाटन झारखंड के राज्यपाल महामहिम डॉ. सैयद अहमद ने किया। इन सभाओं में स्वामी ब्रह्मेशानन्द, स्वामी सर्वलोकानन्द, स्वामी पुराणानन्द, स्वामी बलभद्रानन्द, मेरी शिला बोद्रा, श्री इन्द्र सिंह नामधारी, मौलान उबैदुल्लाह कासीम, कल्यानप्रिय भिक्षु, कर्मा अरोन, श्री जयकुमार जैन आदि ने अपने विचार प्रकट किये।

प्रतियोगिता आयोजित

रामकृष्ण मिशन, बड़ोदरा ने ८ वीं से १२ वीं तक छात्रों के लिये राज्यस्तरीय स्वामी विवेकानन्द सामान्यज्ञान प्रतियोगिता आयोजित की, जिसमें ५४,८४० छात्रों ने भाग लिया। २१ फरवरी, २०१२ को विजेताओं को पुरस्कार गुजरात सरकार के शिक्षामंत्री श्री रमनलाल बोरा के कर कमलों से प्रदान किया गया। इस अवसर पर राज्य सरकार के पर्यटन एवं खाद्यापूर्ति विभाग मंत्री श्री जितेन्द्र सुखाडिया, बड़ोदरा के सांसद श्री बालकृष्ण शुक्ल, महाराज सैयाजीराव विश्वविद्यालय की कुलाधिपति श्रीमती मृड़ालिनी देवी, प्रसिद्ध लेखिका डॉ. ज्योति बेन आदि ने भाग लिया। आश्रम के सचिव स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी ने अतिथियों का स्वागत किया तथा स्वामी वेदसारानन्द जी ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की गयी

छत्तीसगढ़ शासन संस्कृति विभाग, विवेकानन्द विद्यापीठ, और रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संयुक्त तत्त्वावधान में १७ तथा १८ मार्च २०१२ को द्विदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। जिसमें छत्तीसगढ़ के महामहिम राज्यपाल श्री शेखर दत्तजी, स्वामी निखिलात्मानन्द जी, श्री पलक बसू, स्वामी व्याप्तानन्दजी और समापन समारोह में छत्तीसगढ़ सरकार में पर्यटन, संस्कृति तथा शालेय शिक्षा मंत्री श्री बृजमोहन अग्रवाल, डॉ. के. के. चक्रवर्ती और स्वामी अव्ययात्मानन्द जी ने भाग लिया।

स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं जन्म जयन्ती कार्यक्रम मनाने के संबंध में सभा का आयोजन

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, रायपुर के तत्त्वावधान में निरंजन धर्मशाला, रायपुर में १३ अगस्त, २०१२ को स्वामी विवेकानन्द जी की सार्ध शताब्दी कार्यक्रम मनाने के लिये निरंजन धर्मशाला, रायपुर में एक सभा का आयोजन किया गया, जिसमें कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार की गयी। इस सभा में संघ के भूतपूर्व सर-संघचालक माननीय श्री सुदर्शन जी एवं रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी से विशेष रूप से भाग लेकर अपने महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। लगभग २०० विशेष सक्रिय कार्यकर्ता एवं प्रबुद्ध नागरिकों ने भाग लिया।

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम

विज्ञानानन्द मार्ग, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद - 211 003
दूरभाष : 0532-2413369 फैक्स : 0532-2415235
ई-मेल : rkmathald@dataone.in

पूर्ण कुम्भ मेला शिविर-2013
एक अपील

प्रिय बन्धु,

प्रयागराज का कुम्भ मेला विश्व के सबसे बड़े धार्मिक उत्सव के रूप में प्रसिद्ध है । इस समय यहाँ पूर्ण कुम्भ मेला 15 जनवरी से 25 फरवरी 2013 तक सम्पन्न होने जा रहा है । इस महान अवसर पर देश के सभी भागों से तथा विदेशों से 150 लाख से भी अधिक तीर्थयात्रियों और साधुओं के भाग लेने की आशा है । संस्था को कल्पवासियों के अतिरिक्त साधुओं और तीर्थयात्रियों की चिकित्सकीय देखभाल के लिये विशेष व्यवस्था करनी होगी। पहले के वर्षों की ही तरह, यह संस्था, एकत्रित तीर्थयात्रियों और साधुओं को निःशुल्क चिकित्सकीय सुविधा उपलब्ध कराने के उद्देश्य से मेला-भूमि पर निःशुल्क एलोपैथिक और होम्योपैथिक क्लीनिक तथा एक प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र का शिविर खोलने का विचार कर रही है।

इस कार्य में हमारी सहायता के लिये योग्य डाक्टरों, कम्पाउण्डरों, चिकित्सा में सहकारी कर्मचारियों और स्वयंसेवकों की आवश्यकता होगी। एक हजार तीर्थयात्रियों, दो सौ साधुओं तथा स्वयंसेवकों के लिये भोजन तथा आवास की भी व्यवस्था करनी होगी। शिविर में नियमित धार्मिक कार्यक्रमों के लिये एक मन्दिर तथा सत्संग पण्डाल की भी व्यवस्था करनी होगी।

शिविर का अनुमानित खर्च एक करोड़ रुपये है। इसलिये सेवाश्रम उदारमना जनता से इस उत्तम लोकोपकारी कार्य में सहायता के लिये, जैसा कि उन्होंने पहले भी ऐच्छिक रूप से किया है, आन्तरिकता से अपील करता है। योगदान के रूप में प्राप्त आपका धन सधन्यवाद स्वीकार किया जाएगा।

चेक तथा ड्राफ्ट **"A/C Payee only"** से रेखित तथा **''रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद''** के नाम पर काट कर रजिस्टर्ड/स्पीड डाक से भेजना श्रेयस्कर होगा ।

धन्यवाद सहित,

प्रभु सेवा में आपका
स्वामी निखिलात्मानन्द
सचिव

---

1. रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम को दिया गया दान इन्कम टैक्स ऐक्ट 1961 की धारा 80 जी के अधीन आयकर से मुक्त है ।
2. महत्वपूर्ण स्नान के दिन हैं - 15 जनवरी (मकर संक्रान्ति), 27 जनवरी (पौष पूर्णिमा), 10 फरवरी (मौनी अमावस्या), 15 फरवरी (वसंत पंचमी) और 25 फरवरी (माघ पूर्णिमा) ।
3. जो लोग कुम्भ मेला के अवसर पर हमारे परिसर में भोजन एवं आवास की सुविधा चाहते हैं, उन्हें अग्रिम भुगतान के साथ एक निर्दिष्ट फार्म पर आवेदन द्वारा अपना स्थान 15 अक्टूबर 2012 तक आरक्षित करा लेना चाहिए । इस विषय में विस्तृत विवरण के लिए उपरोक्त पते पर शीघ्र लिखने का कष्ट करें।